कवि प्रसाद

[प्रसाद की काव्य-कृतियों का सरल अध्ययन]

डॉ० भोलानाथ तिवारी

राजकमल

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

© डॉ० भोलानाथ तिवारी, १९५८

मूल्य चार रुपये

प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस,
दिल्ली

दो शब्द

कवि प्रसाद का यह अध्ययन सीमित पृष्ठों में विशेष वर्ग के पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, अतएव इसकी अपनी सीमाएँ हैं। इस पुस्तक के लिखने में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० प्रेमशंकर, रामनाथ 'सुमन', डॉ० द्वारिकाप्रसाद, किशोरीलाल गुप्त तथा जयचंद राय आदि प्रसाद के अनेकानेक आलोचकों की प्रतिभा ने मेरा पथ प्रशस्त किया है। सभी का आभारी हूँ। पुस्तक की सीमा के कारण प्रायः यथास्थान मैं इनके नामों का उल्लेख नहीं कर सका हूँ।

—लेखक

सूची

पृष्ठभूमि १
परिचय ११
१. प्रारम्भिक कविताएँ और मान्यताएँ २१
२. चित्राधार २५
३. कानन कुसुम ३६
४. प्रेम पथिक ४७
५. करुणालय ६०
६. महाराणा का महत्त्व ६५
७. झरना ६९
८. आँसू ८०
९. लहर ९४
१०. कामायनी १०६
११. छायावाद १३६
१२. रहस्यवाद १४५
१३ नियतिवाद १४९
१४. गीति-काव्य १५१
१५. प्रकृति-चित्रण १५५
१६. भाषा और अलंकार १५९
१७ छंद १६५

पृष्ठभूमि

प्रसाद का रचना-काल २०वी शती के पूर्वार्द्ध के पहले साढ़े तीन दशकों में फैला हुआ है। सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास के विद्यार्थी से यह बात छिपी नही है कि इस काल में दो-चार वर्ष आगे-पीछे साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों में, पूरे भारत में जो स्वच्छन्दता की मदिर गन्ध से युक्त मांगलिक वर्षा हुई, उसके लिए बादल पिछली शताब्दी के प्रथम चरण से ही घिर रहे थे। यूरोप के सम्पर्क में आकर हमने विश्व की यथार्थ स्थिति का अनुभव किया था और यूरोपवासियों की तुलना में अपने को देखने पर हमारे लिए अन्ध विश्वास, अशिक्षा तथा अनेकानेक प्रकार की रूढ़िबद्ध सामाजिक परम्पराएँ असह्य हो उठीं। इस अनुभूति का प्रथम परिणाम सन् १८२८ ई० में 'ब्रह्म समाज' के रूप दिखाई पड़ा। इसके प्रवर्त्तक थे राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३ ई०), जिन्हें आधुनिक भारत का पिता कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा। वे सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलनों के अग्रदूत के रूप में हमारे सामने आए और उन्होंने वेदान्त एवं उपनिषदों से मूल प्रेरणा लेकर हिन्दुत्व को अधिक तर्कपूर्ण, ठोस तथा युगानुकूल भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। ऐसे हिन्दुत्व की स्थापना की, जो विज्ञान की चुनौतियो का सामना कर सके। इसकी मूल स्थापनाओं के प्रमुख आकर्षण केवल चार—(१) ईश्वर का कभी अवतार नहीं होता, (२) अन्तश्चेतना और प्रकृति ही ईश्वरीय ज्ञान के स्रोत हैं, (३) ईश्वर की उपासना का मठ-मन्दिर, कर्मकाण्डपूर्ण पूजा-पाठ तथाकथित संन्यास आदि से कोई सम्बन्ध नही; इसकी विधि आध्यात्मिक होनी चाहिए, तथा (४) ईश्वर की उपासना का अधिकार सभी जातियों और सभी वर्गों को है—थे, पर व्यावहारिक रूप से अस्पृश्यता, सती-प्रथा, बहु विवाह प्रथा, मूर्ति-पूजा, पशु-बलि तथा जाति-प्रथा आदि का विरोध भी किया गया, साथ ही सर्व-धर्म-सम-भाव पर बल दिया गया। ब्रह्म समाज की यह लहर बंगाल से आरम्भ होकर भारत के अन्य प्रान्तों में भी पहुँची और इसने भारत के लिए एक नये युग का द्वार खोल दिया। आगे चलकर देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन ने इसे अपनी प्रतिभा से खींचा और धीरे-धीरे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसकी मौलिक

स्थापनाएँ भारतीय मनीषा के ऊपर छाने लगी।

ब्रह्म समाज की एक पश्चिमी शाखा के रूप मे ही महाराष्ट्र मे 'प्रार्थना-समाज' का आन्दोलन चला, यद्यपि यह ब्रह्म समाज की तुलना में अधिक क्रान्तिकारी था। बम्बई में श्री रानाडे तथा डॉ० भण्डारकार के सत्प्रयत्न से १८६७ मे इसकी स्थापना हुई। ब्रह्म समाज की भाँति ही इसका ध्येय भी हिन्दू धर्म के अन्ध विश्वासों को दूर करके उसे वैज्ञानिक रूप देना एवं हिन्दू-समाज में सुधार करना था।

उपर्युक्त दोनों ही संगठन अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-प्रदेश को भी प्रभावित कर रहे थे, पर प्रत्यक्षतः इस क्षेत्र को प्रभावित करने का काम आर्य-समाज ने किया। इस प्रकार के आन्दोलन का प्रारम्भ स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३ ई०) ने यों तो पहले ही आरम्भ कर दिया था, पर १८७५ ई० में उन्होंने 'आर्य समाज' की स्थापना की; और फिर धीरे-धीरे सभी बड़े-बड़े नगरों में इसकी शाखाएँ खुलने लगी और प्रचार-कार्य होने लगा। ब्रह्म समाज और आर्य समाज दोनों ही मूलतः सुधार-आन्दोलन (आर्य समाज ने भी विधवा-विवाह, जाति-पाँति-विरोध तथा शुद्धि-जैसे बहुत-से सुधारवादी कार्यक्रम अपनाए) थे; पर दोनों की प्रवृत्ति मे अन्तर था। जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी आव इण्डिया' मे स्पष्ट किया है कि आर्य समाज भारत पर मुसलमानी प्रभावों और कुछ अंशों में ईसाई प्रभावों की शुद्ध प्रतिक्रिया से उत्पन्न था, इसीलिए इसका प्रमुख नारा 'वेदों की ओर लौटने' का था और इसका विशेष प्रभाव उच्च वर्ग के लोगों पर नही पड़ सका, पर ब्रह्म समाज का विशेष सम्बन्ध उच्च वर्ग से था, साथ ही, उसमे 'वैदिक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है' जैसे सीमित दृष्टिकोण की बातें न थी, अतः वह अधिक युगानुकूल था। इन सीमाओं के बावजूद भी अपने विशिष्ट क्षेत्र में 'ब्रह्म समाज' ने जो काम किया लगभग वही जागृति और सुधार का कार्य अपने क्षेत्र मे आर्य समाज ने भी किया।

धर्म-प्रवण भारत में धर्म पर आधारित इन आन्दोलनों ने हमारे दृष्टिकोण मे कुछ अंशों में आमूल परिवर्तन किए।

इसी प्रसंग में रामकृष्ण परमहंस (१८३४-८६ ई०) और उनके शिष्य विवेकानन्द (१८६३-१९०२ ई०) के नाम भी लिये जा सकते हैं। परमहंस भी मूलतः सभी धर्मो को एक मानने के पक्षपाती थे। विवेकानन्द ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया और विश्व के समक्ष भारतीय अद्वैतवाद के व्यावहारिक रूप को बड़े स्पष्ट रूप मे तथा बल के साथ रखा। जब इससे अमेरिका तथा अन्य देश प्रभावित हुए तो भारतीयो की आँखे और खुली तथा यूरोप के सम्पर्क में

आने वालों में जो थोड़ी हीन भावना आ गई थी, उसका भी निराकरण हुआ। लोगों का ध्यान अपने अतीत पर गया। यह सोचकर सन्तोष का अनुभव किया गया कि भौतिक क्षेत्र में न सही तो किसी और में ही, भारत भी विश्व को कुछ दे सकता है।

इन भारतीयों के अतिरिक्त कुछ यूरोपीय तथा अमेरिका के लोगों ने भी अप्रत्यक्ष रूप से हमारे जागरण का कार्य किया। १८७५ ई० में अमेरिका में मैडम ब्लैवट्स् की तथा कर्नल अलकाट ने थियोसोफिकल सोसाइटी की नीव रखी। चार वर्ष बाद वे भारत आए। यहाँ का वातावरण उसके लिए अधिक उपयुक्त देखकर यही उसका प्रमुख केन्द्र स्थापित किया। १८९३ ई० में एनी बीसेंट इसीसे सम्बद्ध होकर भारत आई और उनके कारण थियोसोफिकल सोसाइटी का अधिक प्रचार हुआ। इसके व्याख्याता धर्मों की एकता पर बल देने के साथ-साथ प्राचीन भारतीय ज्ञान का भी गुण-गान करते थे। हॉगसन, बार्टलिंग्क तथा मैक्समूलर आदि अन्य भी बहुत-से लोगों ने दर्शन, साहित्य तथा भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में भारत से बहुत-कुछ सीखने-समझने के लिए पश्चिमी देशो को प्रोत्साहित किया।

इन सारी बातों के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों मे चेतना के अतिरिक्त अद्वैतवाद तथा सर्वात्मवाद-जैसी भावनाओं का भी प्रचार हुआ, जिसका साहित्य में छायावाद-रहस्यवाद मे दर्शन होता है।

ऊपर प्रमुखतः धार्मिक आन्दोलनों का परिचय था। राजनीति के क्षेत्र मे भी चेतना आई। यूरोप के सम्पर्क में आने पर स्वतन्त्रता का महत्त्व अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आया। १८५७ ई० के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम में हम असफल तो रहे, पर हमारे स्वतन्त्रता-विटप के ऊपरी भाग के कुचल जाने के कारण उसकी जड़ मजबूत होने लगी। शिक्षा-सार के साथ-साथ यह भावना और भी बढती गई। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई। उस स्थापना में मूलतः अंग्रेजों का ध्येय कुछ और था, पर 'बलि चाह्यो पाताल को, हरि पठयो पाताल' वाली कहावत चरितार्थ हुई। और आगे चलकर बंग-भंग (१९०५ ई०) आदोलन ने हमारी जाग्रति मे और भी तेजी ला दी। अगले दशक में (१९१५ ई० में) महात्मा गांधी भारतीय राजनीति में आए। उनके आने के बाद सामाजिक राजनीतिक, साहित्यिक, भाषायी, सांस्कृतिक और चारित्रिक, सभी प्रकार की चेतनाएँ एक साथ आईं और मानसिक रूप से हम बहुत तेजी से आगे बढने लगे। तत्कालीन साहित्य में उपदेश, देश-प्रेम, जाति-विरोध, आडम्बर-विरोध, विधवा-विवाह आदि से सम्बद्ध जागरण और प्राचीन भारतीय संस्कृति के

उज्ज्वल पृष्ठों के चित्रों का बाहुल्य इस सर्वांगीण चेतना और तदनुकूल चिन्तन का ही प्रतिफल था।

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध (१९१४-१८) मे भारत की ओर से अंग्रेज़ों की हर प्रकार से पूर्ण सहायता की जाने के बावजूद भी पुरस्कार-स्वरूप मिली जलियाँ वाला बाग की गोलाबारी, (जिसमें ४०० व्यक्ति मारे गए और लगभग डेढ़ हज़ार घायल हुए) तथा १९१७ के नवम्बर में रूसी ज़ारशाही को समाप्त करके जनतन्त्री रूस का उगना आदि बातो ने १९२० में हमे इतना आगे बढ़ा दिया कि हमारी प्रमुख संस्था कांग्रेस ने १९२० में अपने पुराने ध्येय 'औपनिवेशिक स्वराज की प्राप्ति' को त्यागकर 'पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति' के रूप में नया ध्येय सामने रखा। विकास का यही क्रम आगे भी चलता रहा।

इस राजनीतिक विकास की कहानी मे दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि हमारी चेतना बढती जा रही थी, अतः स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हम दृढ़प्रतिज्ञ होते जा रहे थे। तत्कालीन भारतीय साहित्य में इस बात की अभिव्यक्ति बड़े उत्साहपूर्ण ढंग से हुई है। साथ ही इस राजनीतिक प्रगति में अंग्रेज़ों की धोखे से भरी नीति के कारण क्षण-क्षण पर विजय और पराजय की धूपछाँह हमें प्रसन्न और दुखी बना रही थी। कभी तो स्वतन्त्र होने की स्थिति को अत्यन्त समीप समझकर हम उत्साह और हर्ष से फूल उठते थे और कभी शासकों से अपेक्षित फूल की जगह पत्थर पाकर अपने नेतागणों की नीति में अप्रत्याशित परिवर्तन देख तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पथ को कंटकाकीर्ण पा हम नैराश्य-नद मे डूबने-उतराने लगते थे। अपने आन्दोलनों को कुचले जाते देखकर भी हमें दु.ख और निराशा होती थी। हमारे तत्कालीन साहित्य में वेदना और निराशा के स्वर के पीछे व्यक्ति-विशेष की वैयक्तिकता के अतिरिक्त ये बातें भी कारण स्वरूप विद्यमान हैं।

आर्थिक दृष्टि से १८५० के पूर्व तक भारत में सामन्त-युग था। बाद में धीरे-धीरे पूँजीवाद का विकास होने लगा और २०वीं सदी के आरम्भ तक पूँजीवाद प्रायः पूर्णतः आ गया। इसका भी तत्कालीन साहित्य से सम्बन्ध है। मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुसार तो साहित्य की हर नई चीज़, वह चाहे विचार-क्षेत्र की हो या शैली-क्षेत्र की, आर्थिक ढाँचे या उसके परिवर्तन से सम्बद्ध होती है। आगे 'छायावाद' से सम्बन्धित अध्याय मे इस प्रश्न को उठाना अधिक प्रसंगानुकूल होगा।

पीछे शिक्षा के क्षेत्र में धीरे-धीरे विकास होने का संकेत किया जा चुका है। १९०० ई० तक आते-आते अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार पर्याप्त हो चुका था।

उसकी कुछ गद्य-पद्य की रचनाओं के अनुवाद भी धीरे-धीरे हिन्दी मे आ रहे थे। इस समय तक बंगाल पर यूरोपीय, प्रमुखतः अंग्रेजी साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। हिन्दी की तुलना में बँगला साहित्य एक तो समृद्ध था, दूसरे रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'नोबुल प्राइज' मिलने के कारण भी उसमें आकर्षण बढ़ गया, अतएव उसका भी समृद्ध अध्ययन किया जाने लगा, साथ ही बंगला से अनुवाद भी पर्यात मात्रा में होने लगे। इस प्रकार हिन्दी साहित्य पर प्रत्यक्षतः और बंगला के माध्यम से भी अंग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था। साथ ही बँगला से उसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ भी हिन्दी में आ रही थी। तत्कालीन गद्य की उपन्यास, नाटक, कहानी तथा निबन्ध आदि विधाओ एवं रहस्यवाद-छायावाद नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओं पर अंग्रेजी तथा बंगला का यह प्रभाव स्पष्ट है।

उस काल में उर्दू का भी हिन्दी-क्षेत्र में पूरा प्रचार था और उस समय के बहुत-से हिन्दी-लेखक तो मूलतः उर्दू के ही विद्यार्थी या लेखक भी रह चुके थे। इसी प्रकार फ़ारसी का भी पढ़ना-पढ़ाना पूरी तरह प्रचलित था। फलस्वरूप लोग इन दोनों के साहित्य से भी परिचित थे और इसीलिए इन दोनों के भी प्रभाव उस काल के साहित्य मे यत्र-तत्र मिल जाते हैं; यद्यपि अधिक नहीं।

ये तो प्रभाव थे शुद्ध काव्य-क्षेत्र के। इनका प्रभाव प्रमुखतः भाव, कल्पना तथा कला के क्षेत्र में पड़ा। पर इनके साथ ही यूरोप के सम्पर्क से विचारों के क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ा। इस दृष्टि से मार्क्सवाद, बुद्धिवाद, जनवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा मानववाद आदि उल्लेख्य है। रूस की सफलता के कारण मार्क्सवाद का आकर्षण बढ़ गया। विज्ञान की यूरोप में उन्नति, तथा अपने यहाँ ढकोसलों एवं धर्माडम्बर से मुक्त होने पर बौद्धिकता का आना भी स्वाभाविकता था। अवतारी पुरुषों में करिश्मों को इसीलिए इस युग में मिलती-जुलती सामान्य घटनाओं में परिवर्तन कर दिया गया। 'प्रिय प्रवास' इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। उसमें गोवर्द्धन को अंगुली पर उठाने या इसी प्रकार की अन्य घटनाओं के रूप बदल दिए गए है। अब तक साहित्यिक का ध्यान उच्च पुरुषों आदि पर होता था, पर पश्चिम के प्रभाव ने जनवादी भावनाएँ भर दीं। किसान, मजदूर, पतित और नीच भी कविता के विषय बने। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अपना सिद्धान्त यों तो पुराना है, पर इस युग में महायुद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता संकुचित मनोवृत्ति की पोषक जान पड़ी, अतः अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर पूरे विश्व का ध्यान गया। भारत ने भी इसकी सच्चे हृदय से

अनुभूति की। विज्ञान के कुपरिणाम युद्ध में दिखाई पड़े; अतः लोगों ने इस बात का अनुभव किया कि बिना मानववादी दृष्टिकोण अपनाए कल्याण नहीं। विज्ञान के आविष्कारों को भी मानववादी भावनाओं से ही सही रास्ते पर लगाया जा सकता है, अन्यथा वे पूरे विश्व के लिए घातक और प्रलयंकर सिद्ध हो सकते है। इस प्रकार विचार के क्षेत्र में उपयुक्त सभी वादों के प्रभाव के कारण धीरे-धीरे हिन्दी-कविता का विचार पक्ष अधिक सशक्त, सन्तुलित और युगानुकूल बन गया।

यहाँ यह भी देखने की आवश्यकता है कि अंग्रेजी, बँगला, उर्दू तथा फ़ारसी या विचार के क्षेत्र में यूरोपीय वादों आदि से प्रभावित होने वाली अपनी स्थिति क्या थी।

रीतिकाल में शृङ्गार और रीतिबद्ध काव्य का प्राधान्य था। सुधार-आन्दोलनों के कारण शृङ्गारपरक रचनाएँ भारतेन्दु-काल में कम होने लगीं और विभिन्न क्षेत्रों मे जागृति के कारण जाति, विधवा, अशिक्षा, नारी का बन्धन, धर्म, तथा स्वतन्त्रता और स्वदेश-प्रेम आदि विषयों से सम्बद्ध कविताएँ अधिक होने लगीं, यद्यपि शृङ्गारपूर्ण कविताओं की रचना पूर्णतः बन्द नहीं हो सकी। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में द्विवेदी-युग में भारतेन्दु युग का रहा-सहा शृङ्गार भी समाप्त हो गया और केवल उपर्युक्त विषयों पर उद्बोधन या उपदेश की कविताएँ ही काव्य-क्षेत्र में प्रमुख रहीं। इनके साथ ही भारत के प्राचीन गौरव से सम्बद्ध इतिवृत्तात्मक रचनाएँ भी लिखी गईं। यह स्थिति लगभग १९०० से १९२० तक रही। साहित्यिक परम्परा का विकास प्रमुखतः दो रूपों में होता है। एक तो सीधा विकास दूसरे प्रतिक्रिया। भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग सीधा विकास था, पर द्विवेदी-युग के बाद जो छायावादी-रहस्यवादी युग आया वह प्रतिक्रिया था। यह प्रतिक्रिया यों तो १९१० ई० के लगभग से ही शुरू हो गई थी, पर स्पष्ट रूप से १९२० के लगभग सामने आई। यह प्रतिक्रया कई रूपों में दिखाई पड़ी। अब तक कविताओं का विषय बाह्य और इतिवृत्तात्मक था। अब कवि अपने आन्तरिक भावों को गीति के रूप में बाहर रखने लगा। इस प्रकार वैयक्तिकता पर बल दिया गया। साथ ही उसने सांकेतिकता या प्रतीकात्मकता का सहारा लिया। शृङ्गार और प्रेम को हौवा बनाकर, या अश्लीलता आदि के नाम पर छोड़ दिया गया था, पर तथ्य यह है कि मनुष्य के लिए ये दोनों बहुत ही स्वाभाविक हैं; अतएव नये कवियों ने इन दोनों को अपनाया। साथ ही समवेत रूप से काव्य के क्षेत्र में जो स्थूलता आ गई थी उसका स्थान सूक्ष्मता ने ले लिया। ये सभी बातें एक

तो प्रतिक्रियास्वरूप आई और दूसरे अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों एवं बँगला के प्रभाव से।

इन सारी बातों से स्पष्ट है कि हिन्दी में छायावाद-रहस्यवाद नाम से जो नई धारा आई, वह एक ओर तो भारतेन्दु काल से चलती आती उस काव्य-धारा की प्रतिक्रिया थी जो द्विवेदी-युग में अत्यधिक स्थूल, वर्णनात्मक, तथा आदर्शवादी आदि बन गई थी; दूसरी ओर वह विचार, भाव, कल्पना और शैली के क्षेत्र मे यूरोपीय विचार-धारा, एवं अंग्रेजी, बँगला आदि के राज्यों से प्रभावित थी। हिन्दी में इसे लेकर दो विरोधी मत व्यक्त किये गए हैं। कुछ लोग तो उस धारा को केवल अपना विकास मानते हैं और उस पर स्वदेशी प्रभाव नही मानते। दूसरी ओर कुछ लोग उसे पूर्णतः बाहरी प्रभाव मानते है, अपनी परम्परा में विकसित नहीं मानते। यथार्थ यह है कि इसमें दोनों ही का सामंजस्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रसंग में दो बातें कही हैं। अपने इतिहास में एक स्थान पर वे कहते है "इस तृतीय उत्थान (छायावाद-रहस्यवाद) में जो परिवर्तन हुआ······वह द्वितीय उत्थान (द्विवेदी युग) की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है।" या 'छायावाद का चलन द्विवेदी-काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था।"

उन्होंने अन्यत्र कहा है कि "यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।" श्री प्रभाकर माचवे ने शुक्लजी के इन दोनों कथनों को आत्म-विरोधी कहते हुए यह निष्कर्ष दे दिया है कि शुक्ल जी ने इस प्रकार अपनी ही बात काट दी है। श्री नामवरसिंह ने भी इसे अन्तर्विरोध माना है। मुझे लगता है कि इन दोनों ही लेखकों ने इसे अन्तर्विरोधी कहकर आचार्य शुक्ल के प्रति न्याय नही किया है। यहाँ "अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नही" कहने से शुक्ल जी का आशय यही है कि वह बाह्य से प्रभावित है। कोई विशेषता दूसरे के प्रभाव से भी उत्पन्न हो सकती है और सामाजिक विकास में प्रतिक्रिया-स्वरूप भी आ सकती है। पर साथ ही यह भी असम्भव नहीं कि प्रतिक्रिया स्वरूप कोई विशेपता उभरे, पर उनके विकास में बाह्य प्रभाव भी काम करें। हिन्दी में यही हुआ है। प्रतिक्रियास्वरूप नई कविता विशिष्ट रूप में उभरी, पर साथ ही बाह्य प्रभावों से प्रभावित होकर वह विशेष प्रकार की हो गई। यदि वह बाहरी प्रभाव न पड़ता तो उसका रूप कुछ भिन्न होता और अंग्रेजी रोमाण्टिक कविता के साथ उसका जो इतना अधिक साम्य दिखाई पड़ता है, शायद न मिलता। मै समझता हूँ कि शुक्ल जी का आशय यही है। दो भिन्न स्थानों पर

उन्होंने उन दोनों मूल उपकरणों का संकेत किया है जिसके मिश्रित प्रभाव छायावादी कविता के रूप में मिलते हैं।

पाश्चात्य प्रभाव के विषय में एक रोचक बात यह है कि, जिन दिनों छायावादी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ उन दिनों अंग्रेजी साहित्य में जॉर्जियन युग चल रहा था; एडवर्डियन और विक्टोरियन युग बहुत पीछे छूट चुके थे और रोमाण्टिक पुनर्जागरण का युग तो लगभग एक शताब्दी पूर्व समाप्त हो चुका था। इसलिए अंग्रेजी कविता के तीन-तीन निकटवर्ती युगों को छोड़कर, चौथे दूरवर्ती, दिवंगत युग (रोमांटिक युग) से छायावादी कवियों का प्रेरणा ग्रहण करना अथवा प्रभावित होना एक विशिष्ट अर्थ का सूचक बन जाता है। वस्तुतः बात यह थी कि सामाजिक विकास के जिस सोपान पर अंग्रेजी काव्य के अन्तर्गत की प्रतिष्ठा हुई थी, विकास के लगभग उसी सोपान पर पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-भाषी-समाज वैसी ही भावनाओं से परिपूर्ण हो गया। छायावादी कविता में अधिकतर उन्हीं समाज-सापेक्ष भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उसका नैतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल अन्तः स्वर अंग्रेजी कविता के बहुत निकट पहुँच गया है और इसी कारण जहाँ-तहाँ उससे प्रभावित है। किन्तु, यह प्रभाव अवांछनीय स्थिति तक नही पहुँच सका। इसीलिए इस प्रभाव को हम प्रभाव न कहकर यदि विकास की स्वाभाविक दिशा की ओर अग्रसर करने वाला एक आनुषंगिक रचनात्मक उपादान कहें तो भी असत्य न होगा। यह उपादान जितनी दूर तक हमारे जीवन में व्याप्त हो सका उतनी ही दूर तक साहित्य में भी। अतएव उसे अस्वाभाविक तो माना ही नही जा सकता।

भाषा को लेकर भारतेन्दु-काल में ही यह नीति अपना ली गई थी कि गद्य की रचना खड़ी बोली में हो। ये लोग पद्य भी खड़ी बोली में लिखना चाहते थे, पर ब्रज-भाषा की तुलना में उसके कर्कश होने तथा उन लोगों के अनभ्यस्त होने के कारण वह (खड़ी बोली) काव्योपयोगी नही लगी; अतएव अधिकांश कविताएँ ब्रज में लिखी गईं। १६०० ई० के बाद से खड़ी बोली को पद्य में भी प्रयुक्त करने का आन्दोलन चला। इसका आशय यह है कि लगभग १६१० ई० तक पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली और ब्रज दोनों के प्रयोग होते रहे पर उसके बाद धीरे-धीरे गद्य-पद्य दोनों ही क्षेत्रों में खड़ी बोली का एकाधिकार हो गया। यही कारण है कि प्रसाद तथा उस युग के कुछ अन्य कवियों ने भी अपनी कविताएँ आरम्भ में ब्रज में लिखीं, पर फिर धीरे-धीरे खड़ी बोली में लिखने लगे। कुछ लोगों ने तो अपनी कुछ काव्य-पुस्तकें आरम्भ में ब्रज में

लिखीं, फिर बाद में समय की गति देखकर उनका खडी बोली में रूपान्तर कर दिया। प्रसाद ने 'प्रेम-पथिक' की रचना इसी प्रकार की थी।

यह है आधुनिक युग (प्रसाद के अन्तिम समय तक) की संक्षिप्त पृष्ठभूमि। हम देखते हैं कि तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में इसकी हर स्मृति किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित है। इस प्रकार यह साहित्य इस युग के हृदय की धड़कन से स्पन्दित और अनुप्राणित है। जैसा युग और समाज है, वैसा साहित्य भी है।

परिचय

प्रसाद जी के पूर्वज (जाति के कान्यकुब्ज हलवाई वैश्य) मूलतः कन्नौज के रहने वाले थे। वहाँ से किसी कारणवश कई पीढ़ी पूर्व ये लोग गाजीपुर जिले के सैदपुर कस्बे में चले गए थे और वहाँ चीनी का व्यापार करते थे। बाद मे रोजगार में घाटा होने से इनके पूर्वजों की एक शाखा काशी में गोवर्धन सराय नाम के मुहल्ले में जाकर बसी। यहाँ जाकर ये लोग इत्र, तम्बाकू, जर्दा, सुर्ती तथा सुँघनी आदि का काम करने लगे। इस काम में इनकी पर्याप्त उन्नति हुई और धीरे-धीरे काशी के उच्च श्रेणी के धनी-मानी लोगों में ये लोग गिने जाने लगे।

काशी में इनका परिवार 'सुँघनी साहू' के नाम से प्रसिद्ध था। इसमें 'साहू' शब्द तो 'वैश्य' का समानार्थी है। 'सुँघनी' एक विशेष प्रकार की सुर्ती होती है, जो सूँघने के काम आती है। कहा जाता है कि इनके यहाँ से पंडितो तथा विद्यार्थियों को निःशुल्क सुँघनी मिलती थी, इसी आधार पर इस परिवार को लोग 'सुँघनी साहू' कहने लगे। कुछ लोगों के अनुसार इनके पूर्वजों में एक व्यक्ति गनपत साहू ने एक विशेष प्रकार की सुँघनी बनाई थी, इसी कारण ये लोग 'सुँघनी साहू' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस धनी-मानी परिवार को लक्ष्मी के साथ उदार हृदय भी मिला था। प्रसिद्धि है कि इनके यहाँ से कोई खाली हाथ नही लौटता था। इनके दान और गुण-ग्राहकता की इतनी शोहरत थी कि प्रायः वे सभी कलावन्त या विद्वान्—जो काशीराज के दरबार में आते थे, इनके यहाँ भी आते थे और उन सभी का द्रव्य-वस्तु आदि से इनके यहाँ उचित सत्कार किया जाता था। इन्हीं गुणों के कारण, यो तो काशी में धन की दृष्टि से और भी बड़े लोग थे पर 'जय जय शंकर' या 'हर हर महादेव' कहकर अभिवादन या तो काशिराज का किया जाता, या फिर इनके परिवार वालों का।

प्रसाद के पितामह बाबू शिवरतन साहू की दानशीलता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि प्रातः गंगा-स्नान से लौटते समय वे अपने वस्त्र तथा लोटा आदि मार्ग में

बैठे भिखारियों को दे डालते थे। कवि के पिता बाबू देवीप्रसाद भी उन्हीके समान थे।

ऐसे परिवार में प्रसाद का जन्म माघ शुक्ला दशमी सं० १९४६ वि० (सन् १८८९ ई०) में हुआ। इनके एक बड़े भाई भी थे, जिनका नाम शंभुरत्न था। यह समय परिवार की चरम उन्नति का था। कवि का लालन-पालन इस धन-धान्यपूर्ण वातावरण में किस वैभव के साथ हुआ होगा, यह कहने की आवश्यकता नही।

प्रसाद का परिवार बहुत पहले से शिव का उपासक था। प्रसाद का जन्म शिव का प्रसाद समझा गया और वैद्यनाथ धाम के 'झारखंड' के आधार पर प्रारम्भ में उन्हें 'झारखंडी' कहकर पुकारा जाने लगा। आगे चलकर इनका 'जयशंकर' रूप मे नामकरण संस्कार हुआ। डॉ० राजेन्द्रनारायण शर्मा ने 'सुमित्रा' पत्रिका (जुलाई १९५१) में प्रसाद के बचपन के सम्बन्ध में लिखते हुए एक बड़ी मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं अन्नप्राशन-संस्कार के बाद उसी पूजा-विधि में पुस्तक, बही, मसिपात्र, लेखनी तथा बच्चे के मन को लुभाने वाली अन्य बहुत-सी सप्तरंगी वस्तुओं तथा खेलने के योग्य लाल-पीली पदार्थावलियों के बीच शिशु प्रसाद को अपने मन की चीज चुन लेने के लिए छोड़ दिया गया। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब सब कुछ छोड़कर प्रसाद जी ने केवल लेखनी उठा ली।' इस प्रकार प्रसाद ने शैशव में ही अपनी आन्तरिक अभिरुचि का परिचय दे दिया था।

प्रसाद की स्कूली शिक्षा अल्पकालीन ही रही। ये क्वीन्स कालेज में केवल ८वीं कक्षा तक पढ़ सके। इसके बाद पिता के आकस्मिक निधन के कारण इन्हें अपनी शिक्षा का क्रम घर पर ही जारी रखना पड़ा। इनके अग्रज शंभुरत्न ने इनकी पढ़ाई की व्यवस्था बहुत अच्छी कर दी थी और घर पर ही कई शिक्षक इन्हें संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा फारसी आदि पढ़ाते थे। इनके गुरुओं में उल्लेख्य नाम मोहिनीलाल 'रसमयसिद्ध' का है, जो स्वयं कवि थे। प्रसाद जी बड़े कुशाग्र बुद्धि थे। लगभग ९ वर्ष की अवस्था मे ही इन्होंने पूरी 'लघु कौमुदी' तथा 'अमर कोश' कण्ठस्थ कर लिए थे। वेद-उपनिषद् आदि प्रसाद जी ने पंडित दीनबन्धु ब्रह्मचारी से पढ़े।

पिता की मृत्यु के बाद गृह-कलह के कारण धीरे-धीरे व्यवसाव गिरने लगा, पर कुटुम्बियों की शान-शौकत में कमी न आई। फलस्वरूप परिवार कर्ज के बोझ से दबने लगा। शंभुरत्न जी का कुछ तो व्यवसाय मे मन नहीं लगता था, कुछ विश्वास-पात्र लोगों ने धोखा दिया। इन बातों के फलस्वरूप आर्थिक

संकट बढ़ता गया और साथ ही गृह-कलह भी। अन्त में शंभुरत्न जी को अपने चचा से मुकदमा लड़ना पड़ा। चार वर्ष बाद किसी प्रकार शंभुरत्न जी की विजय हुई और बँटवारा हो गया। इसी बीच प्रसाद जी की माता का भी देहान्त हो गया। बँटवारे के बाद शंभुरत्न ने व्यवसाय को उन्नत बनाने की जी-जान से कोशिश की, पर बहुत अधिक सफलता न मिल सकी। उस समय तक प्रसाद जी भी दुकान पर बैठने लगे थे। उन्होंने कविता करनी भी शुरू कर दी थी। शम्भुरत्न जी को यह कवि-कर्म पसन्द न था। इसके लिए उन्होंने प्रसाद को कई बार डाँटा भी। उनका कहना था कि हम लोगों को अपनी पुरानी प्रतिष्ठा और वैभव की प्राप्ति के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता है। इस डाँट का प्रभाव इतना ही पड़ा कि प्रसाद जी चुपके-चुपके गुप्त रूप से कविता लिखने लगे। दूकान पर बैठे-बैठे जब तरंग आती तो कागज न होने पर कभी-कभी वे दुकान की बही से ही कुछ कागज फाड़कर उस पर कविता लिख डालते। भाई जब बही देखकर पूछते तो कह देते कि कागज नही था, अतः इसी से फाड़कर सुर्ती या जर्दा बेचना पड़ा। इन प्रकार प्रोत्साहनशून्यता, बहानों और दुख आदि के नीचे हिन्दी के अमर काव्य का बीज धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलता रहा।

लगभग सत्रह वर्ष की अवस्था में प्रसाद पर एक और नई विपत्ति आई। उनके पिता-तुल्य अग्रज श्री शंभुरत्नजी का देहान्त हो गया। इस प्रकार इस थोड़ी-सी उम्र में ही अपने तीन प्रिय जनों की दुःखद मृत्यु तथा अपने धन-धान्यपूर्ण घर को चौपट देखकर, साथ ही लाखों के ऋण का ऋक्थ पाकर प्रसाद को जीवन-संग्राम में उतरना पड़ा। **'छोट बित्त मरजाद बड़, यहु बिपत्ति कर खान'** वाली बात थी। अब भी 'सुँघनी साहू' की प्रतिष्ठा थी, पर प्रतिष्ठा के स्तर पर खड़ा होने के लिए लक्ष्मी का आधार न था। फिर भी प्रसाद जी ने अपनी प्रतिष्ठा, बुद्धिमत्ता और व्यवहार-बुद्धि से सभी बातों का निर्वाह करते हुए अपने व्यवसाय को सँभाला और धीरे-धीरे २४-२५ वर्षों में अपना पूरा ऋण उतार डाला।

प्रसादजो को अपना विवाह भी स्वयं करना पड़ा और वह भी तीन। इस प्रकार जीवन में उन्हें दो बार मृत्यु के कारण अपने प्रणय को खण्डित होते देखना पड़ा। इन सारी करुण परिस्थितियों ने ही मिल-जुलकर प्रसाद को वह चश्मा दिया था, जिससे वे जीवन के अन्तस् को इतनी बारीकी से देख सके, और इतने समीप से भी।

प्रसादजी बहुत स्वस्थ, रूपवान तथा आकर्षक थे। उनका स्वभाव

सरल तथा संकोची था। उनका जीवन बड़ा ही नियमित, साफ और व्यसनशून्य था। प्रातः उपनिषदों का पाठ, गंगा की ओर या बेनिया बाग में टहलना, व्यायाम, लिखना-पढना, स्नान-पूजा, दुकान पर जाना, वहाँ व्यवसाय देखने के अतिरिक्त काव्य-रसिको तथा मित्रो के सत्संग का आनन्द, रात मे लौटकर फिर लिखना-पढ़ना। यह भी उनकी नियमित दिनचर्या। खाने-पहनने का उन्हें शौक था। घुड़सवारी उन्हें पसन्द थी। तरह-तरह के फूलों—विशेषतः गुलाब, जूहीबेला, रजनीगंधा और पारिजात से उन्हें विशेष प्रेम था। अपने मकान के सामने की छोटी-सी बगीची में उनके बैठने की चौकी पारिजात वृक्ष के ही नीचे थी।

प्रसादजी सभा-सोसाइटियों में आना-जाना कम पसन्द करते थे। कवि-सम्मेलनों मे कविता-पाठ करने मे भी उनकी रुचि नहीं थी। यों उनके सुनाने का ढंग बहुत अच्छा था। नागरी प्रचारिणी सभा में कोषोत्सव के अवसर पर उन्होंने खड़े होकर पहली और अन्तिम बार 'नारी और लज्जा' कविता पढ़ी थी, जिसे सुनकर सभी लोग मन्त्रमुग्ध हो गए थे। उस शान्त और मौन साधक को कितनी ही बार लोगो ने विविध प्रकार के आयोजनों का सभापति आदि बनाना चाहा, पर उन्होंने कभी स्वीकार न किया। वाद-विवाद, सम्मति, इण्टरव्यू तथा भूमिका-लेखन आदि से भी वे यथासाध्य दूर ही रहते थे।

किसी भी समय उनसे कोई भी मिल सकता था। कभी भी कोई दुराव-छिपाव या बहाना उनके पास न होता। इस प्रकार उनके परिचितों की संख्या बहुत बडी थी और वे प्रायः सभी क्षेत्रों के थे। इनके अन्तरंग मित्रों तथा आत्मीय जनों में उल्लेख्य विनोदशंकर व्यास, रायकृष्णदास, वाचस्पति-पाठक, केशवप्रसाद मिश्र तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि है।

प्रसादजी गांभीर्य और आत्म-विश्वास की मूर्ति थे। उनके जीवन-काल में अनेकानेक लोगों ने अनेक दृष्टिकोणों से उनकी रचनाओं की कटु-से-कटु आलोचना की, पर कभी भी किसी का उत्तर उन्होंने नहीं दिया। जब उनके कुछ मित्रों ने उत्तर देने की इच्छा प्रकट की तो उन्हें भी मना कर दिया। उन्हें विश्वास था कि उनकी रचनाओं का उचित मूल्यांकन होकर रहेगा। उनके लिए बैसाखियों की जरूरत नही।

दृढता में भी प्रसादजी अप्रतिम थे। बनारस में उन्हें केवल एक ही स्कूल पसन्द था। अपने लड़के श्री रत्नशंकर को उन्होंने वहीं पढ़ने को भेजा। बाद मे एक दिन उन्हे पता चला कि उक्त स्कूल में लड़कों से मनुष्य की पूजा कराई जाती है तो उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ और चुपचाप उन्होंने रत्नशंकर को

वहाँ से हटाकर घर बिठला दिया। इस मूल्य पर वे अपने पुत्र को आधुनिक शिक्षा दिलाने के लिए तैयार न हो सके। उसके बाद उन्होंने रत्नशंकरजी को कहीं भी पढने के लिए न भेजा और घर पर ही उन्हे पढ़वाते रहे।

प्रसाद ने कभी किसी पत्र-पत्रिका से अपनी रचना के लिए पुरस्कार नहीं लिया। एक बार उन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से पाँच सौ रुपये तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी से दो सौ रुपये पुरस्कार-स्वरूप मिले। इन्हें भी उन्होंने नही लिया और अपने भाई के नाम पर नागरी प्रचारिणी सभा को दे दिया।

प्रसादजी बड़े ही विनोदप्रिय थे। उनके सम्बन्ध में विभिन्न लोगों द्वारा लिखे गए संस्मरणों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ दो देखे जा सकते है। एक बार अन्य बहुत-से लोगों के साथ प्रसादजी भी कही बैठे हुए थे और कोई पंडितजी गोस्वामी तुलसीदास की अश्रृंगारिकता पर बल देते हुए यह सिद्ध कर रहे थे कि उनमें कही भी अश्लीलता नही है। प्रसादजी ने मुस्कराते हुए धीरे से कहा—"और पंडित जी 'उमगि नदी अम्बुधि पहँ आई' में क्या है?" सुनकर सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े।

चन्द्रगुप्त नाटक छपा। रायकृष्णदास को समर्पित था। पढने पर उसके पात्र 'चाणक्य' ने संभवतः राय साहब को सबसे अधिक प्रभावित किया। एक दिन प्रसादजी से मिलने पर राय साहब ने मुस्कराते हुए कहा, "आइए चाणक्यजी!" प्रसादजी ने छूटते ही जवाब दिया "तुम्हारे राक्षस[1] बनने पर मुझे चाणक्य बनना ही पड़ा है।" और दोनों मित्र खिलखिलाकर हँस पड़े।

प्रसादजी ने जीवन में कुछ यात्राएँ भी की थी, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नही है। इन यात्राओं का प्रभाव सजीव प्रकृति-चित्रण के रूप मे उनकी रचनाओं पर भी पड़ा है। इस प्रकार की यात्राओं में प्रमुख तीन हैं। एक तो उन्होंने ५ वर्ष की अवस्था मे की, जो जौनपुर और मिर्जापुर तक सीमित थी। इसमें मिर्जापुर की यात्रा मे अहरोरा के पास की पहाड़ियो पर सम्भवतः जीवन में पहली बार मुक्त प्रकृति का उन्हें आकर्षक और चिरनूतन रूप दिखाई पड़ा। नौ वर्ष की आयु में उन्होंने अपेक्षाकृत लम्बी यात्रा—चित्रकूट, नैमिषारण्य, मथुरा, पुष्कर, ओंकारेश्वर, धाराक्षेत्र, उज्जैन आदि की—की। अपनी पहली कविता उन्होंने इसके बाद ही लिखी थी, जिसे हम लोग आगे देखेंगे। उनकी अन्तिम प्रमुख यात्रा मरने के ५ वर्ष पूर्व हुई थी, जिसमें वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथपुरी तथा कलकत्ता आदि गए थे।

---

[1] राक्षस चन्द्रगुप्त नाटक का ही एक पात्र है, जो चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी है।

पुरी के सिन्धु तट पर ही इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पंक्ति—

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे ।[1]

लिखी थी ।

कुछ लोगों के अनुसार—

'हे सागर संगम अरुण नील'[1]

से आरम्भ होने वाली पूरी कविता भी वहीं लिखी गई थी ।

कवि प्रसाद के जीवन की विशिष्ट घटनाओं और गतिविधियों का उल्लेख ऊपर किया गया है । इनके अतिरिक्त उनके जीवन की एक और प्रसिद्ध घटना है और वह है किसी से प्रेम । उनके अन्तरंग मित्रों ने सम्भवतः यह जानने का प्रयास किया कि वह सौभाग्यशालिनी कौन थी, किन्तु प्रसादजी जैसे अतल सागर से इस मोती को निकाल पाना सम्भव न हो सका । प्रेमचन्द ने सन् १९३२ (जनवरी-फरवरी) में 'हंस' का 'आत्मकथांक' निकाला । उसके लिए प्रसादजी से भी आत्म-कथा' माँगी । पहले तो प्रसादजी तैयार न हुए, पर जब प्रेमचन्द ने बहुत ही आग्रह किया तो प्रसाद ने अपनी आत्म-कथा के नाम पर एक कविता भेज दी, जो 'आत्मकथा' शीर्षक से उक्त विशेषांक के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित हुई थी । कविता इस प्रकार थी—

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी ।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास,
यह लो, करते ही करते है अपना व्यङ्ग-मलिन उपहास ।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती ।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे यह गागर रीती ।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले ।
यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं ।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं ।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की ।
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की ।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया ।

---

[1] ये दोनों कविताएँ 'लहर' में संगृहीत हैं ।

जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की।
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्म-कथा?
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

इस आत्म-कथा में कवि ने अपनी उस घटना का उल्लेख किया है। इससे यह भी स्पष्ट है उसकी स्मृति कवि आजीवन सँजोये रहा और वह उसके लिए पाथेय थी, उसकी प्रेरणाओं का स्रोत थी। मुझे लगता है कि 'आँसू' का सम्बन्ध भी इसीसे है। यों 'आँसू' के आलम्बन को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है, पर उसके प्रथम संस्करण को देख लेने पर लौकिक आधार न मानने के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती। अधिक सम्भव है कि 'आँसू' का आलम्बन इस आत्म-कथा का 'आलिंगन में आते-आते मुसकराकर जो भाग गया' ही है।

इन सारी चीजों को देख लेने के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि प्रसाद ने जीवन के सभी क्षेत्रों की खाक छानी थी। ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, सुख-दुःख, उत्थान-पतन तथा हार्दिक प्रशंसा—कटु आलोचना आदि सभी ने उनके कवि को सँवारा-सँजोया था, किसी ने मुस्कान के काँटों से, तो किसी ने आँसू के फूल से। इन बातों से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि उनकी स्कूली पढ़ाई नहीं हुई थी, और न उन्होंने कोई परीक्षा ही पास की थी; पर जीवन और विश्व के स्कूल ने उन्हें पढ़ाने में किसी भी किस्म की कोताही न की थी, और न उन्होंने जीवन की इस विकट परीक्षा में कभी असफलता का ही अनुभव किया था। शंकर के भक्त जयशंकर में इतनी विशेषता तो होनी ही चाहिए।

पीछे इस बात का संकेत किया जा चुका है कि प्रसाद ने घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा फारसी आदि की शिक्षा पाई थी। इन भाषाओं के साथ ही उन्होंने हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के माध्यम से भारतीय तथा यूरोपीय दर्शन, भारतीय तथा यूरोपीय साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र, ज्योतिष, प्राचीन भारतीय इतिहास, वैद्यक तथा तन्त्र आदि का भी गहरा अध्ययन किया था। उन्हें संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फारसी की बहुत-

सी रचनाएँ याद थी जिन्हें वे समय-समय पर बातचीत में उद्धृत भी करते थे। फारसी में उमरखय्याम, जलालुद्दीन रूमी और हाफ़िज, तथा उर्दू में मीर, जौक, सौदा तथा गालिब की रचनाएँ उन्हें बहुत पसन्द थीं। प्रायः लोगों का खयाल है कि प्रसादजी का अंग्रेजी से विशेष परिचय नही था। पर यथार्थतः बात ऐसी नही है। अंग्रेजी में भी उनकी अच्छी पैठ थी और उसके प्रयोगों तथा मुहावरों का उन्हे अच्छा ज्ञान था। उनकी इस योग्यता पर प्रकाश डालने वाली एक मनोरञ्जक घटना का उल्लेख श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ने अपने 'प्रसाद का जीवन-दर्शन' शीर्षक लेख मे किया है। उन्हीके शब्दों में "प्रसाद की 'विराम-चिह्न' कहानी अंग्रेजी में अनूदित की गई। अंग्रेजी साहित्य के एक अच्छे ज्ञाता ने उसमें संशोधन भी कर दिया। तब वह प्रसादजी को दिखाई गई। प्रसादजी ने अपनी कहानी के अग्रेजी अनुवाद को देखकर एक-दो स्थान में प्रयोग तथा मुहावरों-सम्बन्धी ऐसे बारीक संशोधन बताए, जिन्हें देखकर अनुवादक महोदय को दंग रह जाना पड़ा, ऐसा था प्रसादजी का अंग्रेजी का सूक्ष्म-ज्ञान।"

प्रसादजी संगीत के भी प्रेमी थे। विशेषतः शास्त्रीय संगीत उन्हें बहुत पसन्द था। वे निःसंकोच भाव से सिद्धेश्वर बाई वेश्या के यहाँ कभी-कभी संगीत का आनन्द लेने जाते थे। स्वयं भी कभी-कभी संस्कृत के श्लोकों को वे बड़े आकर्षक ढंग से स्वान्तः सुखाय गाते थे। नौका-विहार करने, कुश्ती लड़ने, शतरंज खेलने तथा कभी-कभी सिनेमा देखने (विशेषतः जब सिनेमा ह्यूगो, टालस्टाय, ड्यूमा-जैसे कथाकारों की रचनाओं पर आधारित होते।) का उन्हें शौक था।

प्रसाद के हृदय में अपने राष्ट्र, अपनी भाषा तथा अपने साहित्य आदि से अत्यधिक प्रेम था। प्रसाद की ये बातें उनकी रचनाओं (विशेषतः नाटकों तथा उपन्यासों) से स्पष्ट हैं। हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा की उन्नति के लिए भी वे कम प्रयत्नशील नही रहे। उन्हींकी प्रेरणा से उनके भांजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया था, जिसकी वे न केवल साहित्यिक अपितु आर्थिक सहायता भी करते थे। बाद में उन्हींकी प्रेरणा से श्री विनोदशंकर व्यास ने 'जागरण' नाम का पाक्षिक पत्र निकालना शुरू किया था। 'हंस' की प्रेरणा भी उन्हीसे मिली थी। इन तीनों का नामकरण भी उन्होंने किया था।

प्रसाद ने अपनी पहली कविता ९ वर्ष की आयु में लिखी थी। तब से लेकर अपने जीवन की संध्या तक लिखते रहे—कविता, कहानी, उपन्यास,

नाटक, नाटिका, चम्पू, जीवनी, सैद्धान्तिक निबन्ध तथा ऐतिहासिक खोज-निबन्ध। कुछ लोगों के अनुसार उन्होंने कुछ गद्य-गीत भी लिखे थे, पर अपने एक अत्यन्त आत्मीय व्यक्ति को उस क्षेत्र में सफलता के साथ अग्रसर होते देखकर उन्होने अपनी वे समस्त रचनाएँ नष्ट कर दी और उसके बाद कभी भी गद्य-गीत न लिखा। दूसरे के लिए अपना यह बलिदान भी अप्रतिम है। प्रसाद की ज्ञात रचनाएँ विपयानुसार ये है—

उपन्यास—कंकाल, तितली, इरावती।

नाटक—सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी परिणय, करुणालय, यशोधर्मदेव, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूँट, ध्रुवस्वामिनी, अग्निमित्र।

काव्य—प्रारम्भिक रचनाएँ जिनमें बहुत-सी 'चित्राधार' में संगृहीत हैं, कानन-कुसुम, प्रेम पथिक, महाराणा का महत्त्व, झरना, आँसू, लहर, कामायनी।[1]

कहानी—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, इन्द्रजाल।

निबन्ध—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

चम्पू—उर्वशी।

जीवन-चरित्र—चन्द्रगुप्त मौर्य।

इन रचनाओं में 'इरावैंती' उपन्यास और 'अग्निमित्र'[2] नाटक अपूर्ण हैं। 'यशोधर्मदेव' नाटक पूरा लिखा जा चुका था पर प्रसाद को बाद मे इसके ऐतिहासिक आधारों में कुछ अवैज्ञानिकता दिखाई पड़ी, अतः इसे नष्ट कर दिया।

---

१. हाल में प्रसाद के नाटकों के गीतों तथा उनकी चतुष्पदियों (सानेटों) का संकलन 'प्रसाद-संगीत' नाम से प्रकाशित हुआ है।

२. प्रसाद जी ने इस नाटक के कुछ अंश लिख डाले थे। किसी दिन उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को दिखाया। शुक्लजी ने राय दी कि वह कथानक नाटक के उपयुक्त न होकर उपन्यास के उपयुक्त है। प्रसाद जी ने यह राय मान ली और उसी आधार पर नाटक को अधूरा छोड़, 'इरावती' उपन्यास लिखना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दी के दुर्भाग्य से प्रसाद जी बीच में ही चल बसे और नाटक की भाँति उपन्यास भी अधूरा ही रह गया। 'अग्निमित्र' का जो अंश प्रसाद जी लिख चुके थे, वह १९४४ में दैनिक 'आज' (३० अक्तूबर) में प्रकाशित हो चुका है।

इनके अतिरिक्त प्रसाद 'इन्द्र' नाम का एक और नाटक भी लिखना चाहते थे। कथावस्तु की रूपरेखा तैयार कर ली थी। 'कोशोत्सव स्मारक ग्रन्थ' में इसीकी भूमिका छपी थी। यह लेख सम्भवतः सभा की पत्रिका मे भी प्रकाशित हो चुका था।

प्रसाद जी के अत्यन्त आत्मीय (तथा उनके प्रकाशक) श्री वाचस्पति पाठक के अनुसार प्रसाद जी 'इन्द्र' नाम का एक बहुत बड़ा महाकाव्य लिखना चाहते थे। अपनी अन्तिम बीमारी से पूर्व किसी बातचीत के सिलसिले में प्रसाद जी ने पाठक जी से कहा था "तुम बहुत तंग करते हो तो अब हमने भी निश्चय किया है कि इन्द्र महाकाव्य (जिसके चार भागों मे लिखने की तैयारी वह बहुत दिनों से कर रहे थे, और सच तो यह है कि 'कामायनी' उसी के बीच से निकल पड़ी, एक चीज थी) के साथ-साथ मैं तुम्हें प्रति माह एक सामाजिक नाटक और एक उपन्यास देता चलूँगा।"

लगता है कि 'इन्द्र' नाटक और 'इन्द्र' महाकाव्य का कथानक प्रायः एक ही था। आरम्भ में उन्होंने इस आधार पर नाटक लिखने का निश्चय किया था, पर बाद में सम्भवतः कथानक महाकाव्य के अधिक उपयुक्त लगा, अतः उसे लेकर महाकाव्य लिखना चाहते थे। यदि सचमुच 'कामायनी' उसके बीच से आनुषंगिक रूप से निकली हुई चीज मात्र थी तो 'इन्द्र' किस स्तर की चीज होती, कहने की आवश्यकता नहीं।' यह हिन्दी का ही नही, विश्व-साहित्य का भी दुर्भाग्य है कि महाकवि अपनी वह महान् कृति न दे सका, जिसके सम्बन्ध मे वह बहुत दिन से मान और चिन्तन करता आ रहा था।

जीवन के अन्तिम चरण में प्रसाद जी लखनऊ में प्रदर्शनी देखने गए। वहाँ से लौटने के कुछ ही दिनों बाद वे २२ जनवरी, १९३६ को बीमार पड़े। डाक्टरो ने जाँच करके बताया कि राजयक्ष्मा है। प्रसाद जी राजयक्ष्मा के परिणाम से परिचित थे। उनकी पूर्व-पत्नी इसीसे मर चुकी थीं। हालत दिन-पर-दिन गिरती गई। डाक्टरों ने बाहर जाने की सलाह दी, पर प्रसाद ने बाहर जाना व्यर्थ समझा और काशी न छोड़ी। अन्त में कार्तिक शुक्ला एकादशी, सं० १९९४ (१५ नवम्बर, १९३७) को उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

मैथिलीशरण गुप्त ने प्रसाद जी के महाप्रयाण पर लिखा था—

'जय शंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे॥
तात भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते-रोते जावेंगे॥

१

प्रारम्भिक कविताएँ और मान्यताएँ

प्रसाद जी के यहाँ बहुत पहले से कवियों-कलावन्तों का आना-जाना लगा रहता था और वे लोग समय-समय पर संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फारसी आदि की रचनाएँ सुनाते रहते थे। अनुमान लगता है कि कवि को मूल प्रेरणा इन्हींको सुनते-सुनते मिली। इसके अतिरिक्त उनके प्रारम्भिक अध्यापक स्वर्गीय मोहिनी लाल 'रसमय सिद्ध' भी कुछ कविता करते थे, अतएव उनसे भी इस दिशा में प्रेरणा मिलना सम्भव है।

उस समय कविता में ब्रजभाषा का प्रयोग होता था। प्रसाद ने भी अपनी आरम्भिक कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी। प्राय: कवि लोग अपना उप नाम रखते थे। प्रसाद ने अपना उपनाम 'कलाधर' रखा। इनके परिवार के लोग शिव के भक्त थे, अतएव शिव के ललाट की शोभा बढ़ाने वाले 'कलाधर' की ओर इनका आकर्षित होना सर्वथा स्वाभाविक था। यों इसे चाहे प्रकृति के सुन्दरतम अंश के प्रति आकर्षण कहा जाय चाहे शिव-भक्ति का प्रभाव, पर यह निर्विवाद है कि चन्द्रमा प्रसाद जी के लिए विशेष आकर्षण था। आगे चलकर हम देखेंगे कि अपनी प्रेरणा से निकलने वाले पत्र का नाम भी इन्होंने 'इन्दु' रक्खा था।

प्रसाद जी ने सर्वप्रथम कविता की रचना करनी कब प्रारम्भ की, यह ज्ञात नहीं है। उनका आज जो प्रथम छन्द उपलब्ध है, उसको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वह कवि की प्रथम रचना कदापि नहीं है। कवि की अवस्था उस समय लगभग ९ वर्ष की थी। नैमिषारण्य, ओंकारेश्वर तथा धारा-क्षेत्र आदि की लम्बी यात्रा से लौटने के बाद उन्होंने उस काल के बहुत प्रचलित छन्द सवैया में एक रचना की, और उसे 'रसमय सिद्ध' को दिखाया। सवैया इस प्रकार है—

हारे सुरेस रमेस धनेस, गनेसहुँ सेस न पावत पारे।
जारे है कोटिक पातिकी पुञ्ज, 'कलाधर' ताहि छिनो बिच तारे॥
तारन की गिनती सम नाहिं, सुबेने तरे प्रभु पापी विचारे।
चारे चले न बिरंचहि के, जो दयालु ह्वै संकर नेक निहारे॥

कहना न होगा कि नौ वर्ष के बालक का पहला छन्द इस प्रकार का नही हो सकता। इससे एक अन्य बात का भी अनुमान लगा है। इसी छन्द को यदि एक ९ वर्ष के बालक को समझाया जाय तो कई चीजों को स्पष्ट करने मे थोड़ी कठिनाई होगी। इसका अशय यह है कि आरम्भ से ही इस दृष्टि से प्रसादजी असाधारण रूप से प्रतिभावान थे। कुछ ही बड़े होने पर वे आशुकवि भी हो गए। एक बार उनके यहाँ कुछ कवि बैठे थे। 'अँखियाँ अब तो हरजाई भईं' समस्या थी। प्रसाद जी ने देखते-देखते इसकी पूर्ति कर दी—

भई ढीठ फिरैं चल चंचल ह्वै, यह रीति 'प्रसाद' चलाई नई।
नई देखि मनोहरता कतहूँ, थिरता इनमें नहिं पाई गई॥
गई लाज स्वरूप सुधा छवि कै, न तबौं इनकी कुटिलाई गई।
गई खोजत और ही ठौर तुम्हें, अँखियाँ अब तो हरजाई भईं॥

इससे यह भी पता चलता है कि आगे चलकर इन्होंने अपना उपनाम 'कलाधर' से बदलकर 'प्रसाद' कर लिया। ऐसा क्यों किया यह कहना कठिन है।

प्रसाद की प्रथम प्रकाशित रचना—

सावन आए वियोगिन को तन,
आली अनंग लगे अति सावन।
लावन हीय लगी अबला,
तड़पै जब बिज्जु छटाछबि छावन॥
छावन कैसे कहूँ मैं विदेश,
लगे जुगनूँ हिय आग लगावन।
गावन लागे मयूर 'कलाधर'
झूमि कै मेघ लगे बरसावन॥

है। यह जुलाई १९०६ ई० में 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई थी। प्रसाद जी इसके बाद भी लिखते रहे, पर उनके प्रकाशन की व्यवस्था ठीक न हो सकी। अन्त में १९०९ में उन्होंने कोई और रास्ता न देखकर 'इन्दु' नाम से एक मासिक पत्र की व्यवस्था की और इसका सम्पादक अपने भांजे अम्बिका प्रसाद गुप्त को बनाया। वास्तव में प्रसाद जी के विकास का इतिहास 'इन्दु' का ही इतिहास है। 'इन्दु' १९०९ में आरम्भ होकर बीच में कई बार रुक-रुककर किसी

प्रकार होकर १९२७ तक चलता रहा।

इसके पहले ही अंक में इसके उद्देश्य-स्वरूप प्रसाद ने अपना एक जो छन्द दिया, वह इस प्रकार है—

सज्जन चित्त चकोरन को हुलसावन भावन पूरो अनिंदु है।
मोहन-काव्य के प्रेमिन के हित, साँच सुधारस को बलि बिंदु है॥
ज्ञान प्रकाश प्रसार हिए बिच, ऐसो जो मूरखता तमबिन्दु है।
काव्य महोदधि ते प्रकट्यो, रसरीति कलायुत पूरण 'इन्दु' है॥

यद्यपि इस में काव्य में रस-रीति और कला के समन्वय की ओर संकेत है तथापि प्रमुखतः यह छन्द तो प्रायः औपचारिक-सा है, इससे प्रसाद जी के काव्य-सम्बन्धी विचारों पर विशेष प्रकाश नही पड़ता। पर उसी अंक मे प्रस्तावना के रूप में प्रसाद जी द्वारा व्यक्त की गई बातें इस दृष्टि से पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है।

कहा गया है—

"साहित्य का कोई लक्ष्य-विशेष नही होता है और उसके लिए कोई विधि का निबन्धन नही है, क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है। वह किसी की परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकता, संसार में जो-कुछ सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौन्दर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित और सौन्दर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है, आनन्दमय हृदय के अनुशीलन में स्वतन्त्र आलोचना में उसकी सत्ता देखी जाती है।"

यह उद्धरण प्रसादजी के काव्य के प्रति प्रारम्भिक दृष्टिकोण को बिलकुल स्पष्ट कर देता है। इसको लेकर कहा जा सकता है कि उस काल में हिन्दी में लगभग वही स्थिति थी जो यूरोप में 'कला कला के लिए' आन्दोलन के पूर्व थी। अर्थात् कविता को सुधार तथा प्रचार का माध्यम समझा जाता था। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में युग-भावना को ही अभिव्यक्त करते हुए कहा था—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी इसीके समर्थक थे। प्रसादजी ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस भयावह स्थिति का अनुमान लगाया और 'इन्दु' के प्रथम अंक में ही 'साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता' कहकर इस मान्यता को चुनौती दी। यहाँ 'लक्ष्य न होने' को 'कला कला के लिए' के

पर्याय रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है, पर ऐसा मानना प्रसादजी के प्रति अन्याय होगा। वास्तव में इन शब्दों द्वारा वे केवल यह कहना चाहते हैं कि कवि को 'शिक्षक' या 'उपदेशक' का पद देकर हम कविता के प्रति न्याय नही करते। इस प्रकार के उद्देश्य उसके लिए नहीं हैं।

दूसरी चीज, जिसकी ओर कवि संकेत करता है, वह है 'साहित्य के लिए बन्धन की अनावश्यकता'। यहाँ सम्भवत: बन्धन शब्द का बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग है और कवि इस अनावश्यकता में स्वच्छन्दतावाद-जैसे भाव की ओर संकेत कर रहा है। साथ ही कवि की दृष्टि में जो सत्य और सुन्दर है वही काव्य का विषय है।

ऊपर दिये गए उद्धरण में तो कहीं पर उसके अंशों में कवि ने जो कुछ लिखा है उससे यह भी स्पष्ट है कि वह शब्द के सम्बन्ध में यूरोपीय धारणाओं से भी परिचित है और काव्य के मानदण्ड को हिन्दी में भी उनके अनुरूप करने के पक्ष में है।

इसी प्रस्तावना में और आगे कवि ने कविता के लिए भाव, ओज, संगीत तथा आह्लादकता आदि को आवश्यक माना है।

प्रसादजी जब यह लिख रहे थे, उनकी अवस्था लगभग २० की थी। इस आयु में और इस वातावरण में जहाँ 'उपदेश का मर्म' भी काव्य के लिए आवश्यक माना जाता था, इस प्रकार की बातों तक पहुँच जाना और उन्हें इतने आत्म-विश्वास के साथ रखना, किस स्तर की प्रतिभा के लिए सम्भव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

'इन्दु' के इस, तथा आगे के ४-५ अंकों को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के लिए आवश्यक प्रकृति, कल्पना, मनोविज्ञान-जैसे अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी प्रसाद की निश्चित धारणा बन चुकी थी और सच तो यह है कि कवि प्रसाद ने हिन्दी को जो भी शाश्वत चीजें दी हैं, उन सभी की नींव उसी काल में पड़ चुकी थी।

'इन्दु' में, उसके लगभग १९ वर्षों के जीवन में प्रसादजी की अनेक कविताएँ, कहानियाँ तथा लेख आदि निकले जो आगे चलकर 'चित्राधार', 'कानन कुसुम', 'झरना' तथा कहानी-संग्रहों एवं नाटकों के अंग बने। अब आगे व्यावहारिक सुभीते की दृष्टि से 'इन्दु' को छोड़कर प्रकाशित ग्रन्थों को भी अलग-अलग लेकर प्रसादजी के काव्य पर विचार किया जायगा।

२

चित्राधार

'चित्राधार' प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह है। इसके सम्बन्ध में प्रायः लेखकों ने लिखा है कि इसमे प्रसादजी की २० वर्ष की अवस्था तक की कविताएँ संग्रहीत हैं, पर यह केवल आंशिक रूप से ही सत्य है। अधिकांश कविताएँ इस श्रेणी की अवश्य है, पर उनकी कुछ प्रारम्भिक कविताएँ ऐसी भी हैं, जो इसमें नहीं आ सकी हैं और साथ ही इसकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी है जो इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस तथा पच्चीस वर्ष की आयु में लिखी गई थी।

'चित्राधार' का प्रथम संस्करण सन् १९१८ ई० (सं० १९७५) में प्रकाशित हुआ था, जिसमें

१. कानन कुसुम (कविता-संग्रह)
२. प्रेम पथिक (कविता)
३. महाराणा का महत्त्व (कविता)
४. सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (ऐतिहासिक खोज निबन्ध)
५. छाया (कहानी-संग्रह)
६. उर्वशी (चम्पू)
७. राज्यश्री (ऐतिहासिक नाटक)
८. करुणालय (गीति-नाट्य)
९. प्रायश्चित्त (नाटक)
१०. कल्याणी परिणय (ऐतिहासिक नाटक)

ये दस पुस्तकें थी। भाषा की दृष्टि से इसकी कुछ रचनाएँ ब्रज में तथा कुछ खड़ी बोली में थीं। आगे चलकर इनमे से कई पुस्तकें, उसी रूप में या परिवर्तित-परिवर्द्धित होकर अलग प्रकाशित हुईं और १० वर्ष बाद १९२८ में

इसका दूसरा संस्करण नवीन रूप मे निकला जो अपेक्षाकृत छोटा था तथा जिसमें से बहुत-सी पहले की पुरानी रचनाएँ निकाल दी गई थी, साथ ही बहुत-सी प्रारम्भिक रचनाएँ जोड़ दी गई थीं। अब यही संस्करण मिलता है। इसमें कुछ तो चम्पू, नाट्य-कथाएँ तथा प्रबन्ध है और कुछ कविताएँ है, जिन्हें आख्यानक काव्य, तथा मुक्तक काव्य, इन दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। इसकी सभी कविताएँ ब्रजभाषा की है।

यह आख्यानक कविताएँ कुल तीन हैं—अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन और प्रेमराज्य। मुक्तक कविताएँ साठ से ऊपर है। इनमें बाईस तो ऐसी है जो मुक्त होते हुए भी अपेक्षाकृत कुछ बड़ी है, और इनमें से हर एक का एक शीर्षक है। शेष कविताएँ एक-एक पद या एक-एक कवित्त रूप में हैं। इनके शीर्षक नही हैं।

यहाँ पहले आख्यानक कविताओं पर विचार किया जा रहा है।

अयोध्या का उद्धार

यह आख्यानक कविता पहले 'इन्दु', कला१, किरण १० में १९१० में छपी थी। तब इसका नाम 'अयोध्योद्धार' था। राम के बाद उनका राज्य विभाजित हो गया। कुश को कुशावती और लव को श्रावस्ती आदि प्रदेश मिले। अयोध्या श्रीविहीन हो गई। प्रस्तुत काव्य की कथा इसके बाद से आरम्भ होती है। कुश कशावती में सो रहे है। चारों ओर शान्ति है। रात्रि का वर्णन है—

बिम विधुकला की कान्ति फैली भली है।
सुललित बहुत तारा हीर-हारावली है॥
सरवर जल हू में चन्द्रमा मन्द डोलै।
वर परिमल पूरो पौन कीन्हें कलोलै॥

मन मुदित मराली जे मनोहारिनी है।
मदकल निज पीके संग जे चारिना है॥
तहँ कमल-विलासी हंस की पाँति डोलै।
द्विजकुल तरुशाखा में कबौं मन्द बोलै॥

इसी बीच कुश को वीणा की मन्द ध्वनि सुनाई पड़ती है और एक गौर वर्ण की सुन्दरी 'जो मानो पुखराज की पुतरी' है, दिखाई पड़ती है। कुश को जैसे यह पूरा वातावरण जादू-सा लगता है। सुन्दरी रघुकुल की

प्रशस्ति गाने के बाद उन्हें उठने को कहती है—

तुम छाइ रहे कुशवती
अस सोये रघुवंश की ध्वजा।
उठि जागहु सुप्रभात है
जेहि जागे सुख सोवती प्रजा।

कुश उससे उसका नाम तथा आने का कारण आदि-आदि पूछते है। वह उत्तर देती है : मैं अयोध्या की राज्यश्री हूँ। नागवंशी कुमुद ने उसे शासनहीन पाकर हथिया लिया है। अतएव—

रघु दिलीप अज आदि नृप
दशरथ राम उदार।
पाल्यो जाको सदय ह्वै,
तासु करहु उद्धार॥

कुश उद्धार करने का वचन देते है और प्रातः ही समस्त राज्य दान करके सेना के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। वहाँ युद्ध में नागवंशी कुमुद हारता है और अन्त में उपहार-स्वरूप बहुत-से रत्न तथा सुन्दरी कुमुद्वती को कुश भेंट करता है, कुश और कुमुद्वती के परिणय के साथ कथा समाप्त होती है।

कवि ने इस आख्यानक काव्य की प्रेरणा कालिदास के 'रघुवंश' के १६वें सर्ग से ली है, पर प्रसाद में कुछ मौलिकता भी है। उन्होंने कई स्थल परिवर्तित कर दिए हैं। प्रसाद की यह आरम्भिक रचना है, अतएव कहने की आवश्यकता नहीं कि इसकी तुलना में कालिदास का वर्णन बहुत ही आकर्षक और काव्य-गुण-सम्पन्न है।

इस छोटी-सी रचना में केशवदास की भाँति बार-बार छन्द-परिवर्तन करके प्रसाद ने इसके आकर्षण तथा इसकी प्रभावान्विति को धक्का पहुँचाया है। प्रयोग-काल की रचनाओं में इस प्रकार के स्खलन का मिलना स्वाभाविक ही है।

वन मिलन

इसकी रचना १६०६ ई० तक हो चुकी थी। यह रचना सर्वप्रथम 'वनवासिनी बाला' नाम से 'इन्दु', कला १, किरण ६ में प्रकाशित हुई थी। 'चित्राधार' में प्रसाद ने इसे नया शीर्षक 'वन मिलन' दे दिया। इसका आरम्भ भी प्रकृति-चित्रण से होता है—

अरुण विभा विलसित-हिम-शृंग मुकुटवर छाजत।
मालिनि मन्द प्रवाह सुखद-सुदुकूल विराजत॥
तरुगन रात्रि कतहुँ मरकत-हारावलि लाजै।
साँचहु भूधर नृपति समान हिमालय राजै॥

प्रियंवदा और अनुसूया कण्व ऋषि के आश्रम मे हैं। वे अपनी सखी शकुन्तला से मिलने को व्यग्र हैं। माधवी लता भी उसके लिए रो रही है। इसी बीच गालव आकर बतलाते है कि दुष्यन्त शापमुक्त हो चुके हैं और आ रहे हैं। वे तुरन्त आ पहुँचते हैं—

शकुन्तला दुष्यन्त बीच में भरत सुहावत।
धर्म शान्ति आनन्द मनहुँ सार्थहि चलि आवत॥

सखियाँ मिलती है। थोड़ी देर तक विनोद चलता है फिर शकुन्तला अपनी सखियों के साथ रहने की इच्छा प्रकट करती है। कण्व स्वीकार कर लेते हैं। इसी बीच मेनका आती है और सब मिल जाते है—

चिरबिछुरे सब मिले हिये आनन्द बढ़ावन।

पूरी रचना 'रोला' छन्द मे है। कथानक कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से लिया गया है; पर कथा में कुछ मौलिकता भी है। पिछली कविता की तुलना में यह अधिक सुन्दर है, पर बाद की रचनाओं में जो भाव-गाम्भीर्य मिलता है, वह इसमें नही है। साथ ही वर्णनात्मकता अधिक है। पात्रों में सजीवता की भी कमी है।

प्रेम-राज्य

उपर्युक्त दोनों आख्यानक कविताएँ कालिदास पर आधारित थीं, साथ ही वे एक प्रकार से पौराणिक भी थी। इस पुस्तक में आकर कवि ने सर्वप्रथम इतिहास के पृष्ठों से अपने लिए कथा खोजी और अपने-आप। विकास के पथ पर यह एक महत्त्वपूर्ण पग है! इसी क्षेत्र में और प्रगति हुई, आगे चलकर वे प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक तथा कविताएँ उद्भूत कर सके।

'प्रेमराज्य' का उत्तरार्द्ध सर्वप्रथम 'इन्दु', कला १, किरण ४, (१९०९) में प्रकाशित हुआ था। उसी समय यह स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में भी छपा था और इसे लेकर थोड़ा विवाद भी हुआ था। 'भारत मित्र' तथा 'विहार बन्धु' आदि कुछ पत्रों में इसकी प्रशंसा की गई थी, पर दूसरी ओर लाला भगवान-दीन ने 'लक्ष्मी' में इसकी बड़ी कटु आलोचना की और प्रसाद जी को इस प्रकार धन और श्रम को अपव्यय न करने की सलाह दी थी।

'प्रेमराज्य' पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बँटी हुई, ब्रजभाषा में रोला तथा छप्पय छन्दों में लिखित एक छोटी-सी रचना है। पूर्वार्द्ध में सूर्यकेतु (विजय नगर के हिन्दू राजा) और बहमनी बंश के यवन राजाओं के बीच सन् १५६४ ई० में हुए तालीकोट के प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन है, जिसमें सेनापति के विश्वास-घात के फलस्वरूप सूर्यकेतु मारे जाते है। युद्ध में जाने के पूर्व राजा अपने पंचवर्षीय बालक सूर्यकेतु को एक भील सरदार को सौंप गए थे, जो उन्हें लेकर हिमालय की तराई में चला जाता है। सेनापति राजा के मारे जाने पर अपने घर पहुँचता है, तो वहाँ उसे पत्नी नहीं मिलती। वह इसके विश्वास-घात एवं कायरता से दुखी होकर उसके नाम एक पत्र लिखकर, जिसमें उसे धिक्कारा गया है, चली गई है। सेनापति दुखी होकर संन्यास ले लेता है और अपनी एक-मात्र कन्या ललिता को भी साथ ले जाता है। उत्तरार्द्ध में राजा के पुत्र चन्द्रकेतु और सेनापति की पुत्री ललिता के प्रेम और परिणय की कहानी है। इस प्रकार 'प्रेमराज्य' स्थापित हुआ है।

रचना काफी सफल है। युद्ध का थोड़े में सुन्दर वर्णन है। उस समय की भारतीय दशा का भी इस पर प्रभाव है। कवि को अपने राष्ट्र से प्रेम है तथा राष्ट्र के साथ विश्वास-घात करने वालों के प्रति उसके मन में घृणा है। कुछ पंक्तियाँ हैं—

भारत भूमि धन्य तुम अनुपम खान।
भये जहाँ बहुर तन अतुल महान्।
× × × ×
मातृभूमि द्रोही कहि अति उपहास बनाए।

उत्तरार्द्ध में प्रकृति-वर्णन सुन्दर है। ललिता का रूप-वर्णन भी अच्छा है। उसमें रीतिकालीनता न होकर नवीनता है। प्रसाद की प्रौढ़ कृतियों में जिस शैव दर्शन की छाप मिलती है, उसका प्रारम्भ यहाँ हो गया है। यहाँ शिव के विराट् रूप का चित्रण है—

अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूपम।
शिव स्वरूप तिन माँहि विराजत लखि सब ही सम।
यह विराट संसार तासु अव्यक्त रूप है।
× × × ×
चन्द्र सूर्य युग नैन जबहिं वह अपने पेखत।
तब ही तममय जगत माँहि नर आँखिन देखत।

इस प्रकार युद्ध से आरम्भ होने वाले इस आख्यानक-काव्य में देश-प्रेम-

जैसी सामयिक बात का संकेत करते हुए कवि अन्त में प्रेम और कल्याण का सन्देश देता है।

मुक्तक कविताएँ

'चित्राधार' की मुक्तक कविताएँ 'पराग' और 'मकरंद-बिन्दु' इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखी गई हैं। 'पराग' में प्रमुखतः प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ है; जैसे—'शारदीय शोभा', 'रजनी', 'चन्द्र', 'रसाल-मंजरी', 'रसाल', 'वर्षा नदी में कूल', 'उद्यान लता' तथा 'प्रभात कुसुम' आदि। अन्य कविताएँ 'विस्तृत प्रेम', 'नीरव प्रेम', 'विदाई', तथा कल्पना-सुख आदि विविध विषयों पर हैं।

पहले प्रकृति-विषयक कविताएँ ली जा रही हैं। उस समय तक प्रसाद संस्कृत, अंग्रेजी, रीतिकालीन तथा भारतेन्दुकालीन प्रकृति-चित्रण से परिचित हो चुके थे, साथ ही स्वयं भी अपनी यात्राओं मे प्रकृति के मनहर दृश्य देख चुके थे। अतएव उनकी इन कविताओं में इन सभी का समन्वित प्रभाव है। जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, रीतिकाल में प्रकृति-चित्रण बड़ा पिटा-पिटाया तथा उद्दीपन रूप में होता था। हाँ, भारतेन्दु ने अवश्य प्रकृति को तनिक और भी समीप से साथ ही आत्मीय ढंग से देखने का प्रयास किया था। प्रसाद की इन आरम्भिक कयिताओं मे कुछ और अच्छी स्थिति मिलती है। सत्य यह है कि छायावादी काव्य में प्रकृति को मानव की सहचरी के रूप में जो सामान्य स्थान मिला है उसके सूत्र प्रसाद की इन कविताओं में दिखाई पड़ने लगते हैं। इनका ही उन कविताओं के रूप में सहजात विकास हुआ है। ये एक प्रकार से बीच की कड़ी है। यदि एक ओर इनमें कुछ परम्परानुगतता, बाह्य इतिवृत्तात्मकता, अलंकार का बाहुल्य (जैसे 'चन्द्रोदय' में उत्प्रेक्षाओं का) तथा प्रकृति में आत्म-विभोर हो जाने का अभाव आदि पुरानी तथा द्विवेदी-कालीन विशेषताएँ है तो दूसरी ओर शीर्षक, कुछ गीति-तत्त्व, समासोक्ति आदि का प्रयोग, चित्रों का संक्षिप्त तथा अत्यन्त मूर्त्त होना, मानवीकरण तथा चित्रात्मकता आदि नवीन आकर्षण है जो आगामी प्रकृति-काव्य की भूमिका का काम करते हैं।

प्रसाद और पंत के प्रकृति-चित्रण को लेकर कहा जाता है कि प्रसाद अन्तःप्रवृत्ति के कवि है, तो पन्त बाह्य के। यह विशेषता भी अपने बीजरूप मे 'चित्राधार' में झाँकती हुई दिखाई पड़ती है। इसी प्रसंग में एक अन्य बात की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। इन कविताओं को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रसाद प्रकृति के कवि नहीं है।

उनका हृदय प्रकृति के हर बिन्दु पर लोट-पोट नही होता। वे सौंदर्य के कवि है। जहाँ उन्हे प्रकृति में अत्यधिक सौदर्य दिखाई पड़ता है वहीं वे आकर्षित हाते हैं।

जैसा कि श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तथा कुछ अन्य लोगों ने संकेत किया है प्रकृति के प्रति प्रसाद के हृदय में दो प्रकार की भावनाओं का पता चलता है। एक तो है रति की, जो उनका हृदय पक्ष है; और दूसरी जिज्ञासा की, जो उनका मस्तिष्क पक्ष है। दूसरे शब्दों में कही तो कवि रमणीय दृश्यों को देखकर मुग्ध होता है और कही प्रश्न करता है कि रमणीयता इसमें कहाँ से आई। इन दोनों बातों में पहली में प्रसादजी का कवि रूप और दूसरी में दार्शनिक रूप झाँक रहा है। इस जिज्ञासा की भावना ने ही विकसित होकर प्रसादजी को रहस्यवादी कवि बनने में सहायता दी।

इस प्रसंग में वाजपेयी जी तथा कुछ अन्य लोगों ने भी संकेत किया है यदि छानबीन की जाय तो देखा जायगा कि मुग्ध होने वाले स्थल कम है और जिज्ञासा के अधिक। यथार्थ बात इसके ठीक उलटी है। पूरे 'चित्राधार' में जिज्ञासा के स्थल बहुत ही कम हैं और उनकी संख्या चार-छः से अधिक न होगी। इनमें भी प्रायः शुद्ध जिज्ञासा का भाव ही सर्वत्र नही है, बल्कि जिज्ञासा या प्रश्न की शैली-मात्र का प्रयोग भी है। ऊपर से तो जिज्ञासा का आभास होता है पर विवेचन करने पर उसका सम्बन्ध शैली तक ही रह जाता है। इस प्रकार 'चित्राधार' की कविताओं के आधार पर कवि प्रसाद के आरम्भिक रूप में जिज्ञासा के प्राधान्य का निष्कर्ष देना सत्य से दूर है। उनके इन दोनों रति और जिज्ञासा का पता उनकी कविताओं के साथ 'चित्राधार' में संकलित उनके 'प्रकृति-सौदर्य' शीर्षक निबन्ध से भी चलता है, जिसमें रति के साथ आश्चर्य-मिश्रित जिज्ञासा के स्पष्ट संकेत है।

निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि 'चित्राधार' के कवि में रति और जिज्ञासा दोनों ही के भाव हैं, पर काव्य-रूप में उसके रति या सौदर्य-रति को ही प्रमुखतः अभिव्यक्ति दी है। आरम्भिक प्रसाद के कवि-प्रधान हृदय के लिए यही समीचीन भी है। दोनों के ही एक-एक उदाहरण दिये जा सकते है।

'सांध्यतारा में कवि कहता है—

संध्या के गगन कहूँ सुन्दर वरन।
को है झलकत तुम अमल रतन।।
तारा तुम तारा अति सुन्दर लखात।
तुम्हें देखिबे को नहिं आनन्द समात।।

दूसरी ओर 'विसर्जन' में कवि कहता है—

तारागन क्यों ? गगन में।
हँसत मन्दहिं मन्द।
क्यों मलिन कर कांति।
ह्वै के धावते हो चन्द ।।

'पराग' की प्रकृति-चित्रण से इतर कविताएँ विषय की दृष्टि से बहुत नवीन है तथा उनसे इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि स्थूलता, वर्णनात्मकता, आत्म दुराव तथा प्रेम और शृङ्गार के मांसल रूप में यथासाध्य दूर रहने की द्विवेदीकालीन प्रवृत्ति प्रसाद से निकल रही है और उनके स्थान पर सूक्ष्मता, सांकेतिकता एवं आत्माभिव्यक्ति आदि छायावादी प्रवृत्ति आ रही है। इनमें भी कुछ कविताएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। ऐसी कविताओं में पहली 'कल्पना-सुख'है। काव्य में कल्पना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कवि कहता है—

तब शक्ति-लहि अनमेल।
कवि करत अद्‌भुत खेल ।।
लहि तृण सबिन्दु तुषार।
गुहि देत मुक्ताहार ।।

अंग्रेजी कवि कीट्स ने भी 'ओड टू फैन्सी' कविता लिखी है। असम्भव नहीं कि कवि प्रसाद का इस ओर ध्यान उसी कविता ने दिलाया हो।

इस श्रेणी की दूसरी कविता 'मानस' है। 'कामायनी' भी कुछ अंशों में मानस की ही कहानी है। 'कामायनी' से लगभग चौथाई शताब्दी पूर्व लिखी गई इस कविता में 'कामायनी' के चिन्तन-सूत्र देखे जा सकते हैं—

चिन्ता हर्ष विषाद क्रोध निर्वेष।
लोभ मोह आनन्द आदि बहु भेद ।।
हैं यह मकर निकर अरु मत्स्य महान।
भरे रतन आशा मुक्ता की खान ।।

लगता है कि उसी समय से प्रसाद इस दिशा में सोचते चले आ रहे थे। 'विनय' और 'विभो' इन दो कविताओं का सम्बन्ध भक्ति से है; पर इसमें रहस्यवाद के भी सूत्र है। कवि 'विनय' के प्रारम्भ में ही कहता है—

जो सर्व व्यापक तऊ सबसे परे हैं।
जो सूक्ष्म है पर तऊ वसुधा धरे हैं ।।

जो शब्द में रहत शब्द न पार पावै ।
ताकी महान महिमा कवि कौन गावै ।।
जो भानु मध्य नित भासत ओज धारे ।
शीतांशु जासु लहि कांति प्रभा पसारे ।।

कहना न होगा कि यह सर्वात्मवाद ही रहस्यवाद का मूल है । पर इसके साथ ही कवि की भक्ति में दास्यभाव का परम्परागत प्रभाव भी है । 'विभो' कविता में वह कहता है—

हौं पातकी तदपि हौं प्रभु दास तेरो ।
हौं दास नाथ तव है हिय आस तेरो ।।

मुक्तक कविताओं के दूसरे खण्ड 'मकरन्द बिन्दु' की कविताएँ अपेक्षाकृत अधिक पुराने ढंग की हैं । इनमे अधिकांश ब्रजभाषा के रीतिकालीन काव्य-जैसी हैं । कुछ समस्या-पूर्तियाँ और कुछ लोक-गीत की धुन की हैं । सवैया तथा पद छन्दों का प्रयोग हुआ है । विषय प्रकृति-प्रेम तथा भक्ति आदि हैं । घर के भक्तिपूर्ण वातावरण तथा वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि के अध्ययन से प्रसाद जी आरम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे । आजीवन शंकर के प्रसाद-स्वरूप पुजारी से प्राप्त चन्दन, गंगा-जल, बेल-पत्र आदि को सिर पर चढ़ाते थे । पर वे शुद्ध भक्ति की कविताएँ केवल आरम्भ में ही लिख सके और उनमें भी भक्ति का मध्यकालीन रूप प्रायः नहीं के बराबर है। कबीर आदि सन्तों ने धर्म के नाम पर झगड़ा करने वालों को डाटा था । प्रसाद भगवान् को ही डाटते हैं—

छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो ?
मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो ।।

इसके मूल में तत्कालीन धार्मिक वैमनस्य का होना भी असम्भव नहीं है ।

प्रसाद जी की इस वर्ग की कुछ कविताओं में प्रेम, भक्ति और रहस्यवाद का समन्वय भी है । 'मेरे प्रेम को प्रतिकार' वाला पद कुछ इसी प्रकार का है । यद्यपि इसके

भुज उठाइ तुम्हें भरन हित अंक में जब प्रान ।
हम चलें तुम हटो पीछे करत मुरि मुसुक्यान ।

में 'लहर' में दी गई आत्म-कथा की

आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर जो भाग गया ।

पंक्ति के भावसाम्य से इसमें कवि की आत्म-कथा की छौंक भी खोजी जा सकती है और इस आधार पर इस पूरे पद को लौकिक भावभूमि पर उतारकर उसके उदात्तीकृत रूप में भी देखा जा सकता है ।

इस बात की पुष्टि एक और बात से भी होती है। 'आँसू' का सम्बन्ध सम्भवतः उनके जीवन की उसी घटना से है जिसका संकेत 'चित्राधार' एवं 'लहर' की उपर्युक्त पंक्तियों में है; साथ ही 'आँसू' की कुछ पंक्तियाँ 'चित्राधार' की ही पंक्तियाँ है।

चित्राधार—

जाहु हमारे आह ये रच्छक तुम्हरे पास।
जो लै ऐहैं खींचि पुनि तुमको हमरे पास॥

आंसू—

इस शिथिल आह से खिंचकर,
तुम आओगे आओगे।
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रो-रोकर अपनाओगे॥

'चित्राधार' की सारी रचनाओं पर एक दृष्टि डालने पर निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि महाकाव्यकार, मुक्तककार, गीति-रचयिता, छायावादी-रहस्यवादी खड़ी बोली की खड़खड़ाहट दूर करके सांकेतिक अभिव्यक्ति की अभूतपूर्व क्षमता से उसका शृङ्गार करने वाले तथा पूरी मानवता को एक चितक के रूप में, अमर सन्देशदाता कामायनीकार के रूप में कवि प्रसाद के जिस अप्रतिम व्यक्तित्व का दर्शन प्रौढ़ावस्था में होता है, उसके बीज 'चित्राधार' में वर्तमान हैं। यह रचना युग और परम्परा से प्रभावित होती हुई भी भाषा, भाव तथा शैली के कई पक्षों की दृष्टि से अपने स्वतन्त्र पक्ष का निर्माण करती हुई दिखाई पड़ती है। साथ ही उसमें चिंतन की जो छाप है, उससे उसके रचयिता के असामान्य एवं अत्यन्त कुशाग्र होने के भी स्पष्ट संकेत मिलते हैं। कहना न होगा कि किसी कवि की प्रारम्भिक रचना से हम इससे अधिक की आशा नहीं कर सकते।

'चित्राधार' कालीन रचनाओं में, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, कुछ ऐसी भी हैं, जो 'चित्राधार' में नही आ सकी है। इस प्रकार की रचनाओं में कुछ तो पुराने ढंग के कवित्त-सवैये है, एक-दो सानेट (या चतुर्दशपदी) है और कुछ और सामयिक चीजे; जैसे 'भारत' या 'शोकोच्छ्वास' आदि हैं। 'प्रेम-पथिक' भी अपने मूल रूप में इसी काल की रचना है। इन सभी की आत्मा 'चित्राधार' के अनुरूप ही है।

'शोकोच्छ्वास' एक मरसिया या शोक-काव्य है। प्रसाद ने सप्तम एडवर्ड की मृत्यु के अवसर पर १६१० में इसे लिखा था, और उसी समय

'इन्दु' में तथा स्वतन्त्र पुस्तिका के रूप में इसका प्रकाशन हुआ था। इस रचना मे कुल १४ छन्द है, जो 'अश्रु-प्रवाह' और 'समाधि-स्थल' इन दो खण्डों में विभक्त है। रचना सामान्य है।

चतुर्दशपदियों में 'सरोज' को इस काल की रचनाओं के साथ रक्खा जा सकता है। यह कविता १९१२ के आस-पास लिखी गई थी। यह है तो चतुर्दशपदी (सानेट), पर ग़ज़ल के ढंग पर लिखी गई है। भाव की दृष्टि से छायावाद और द्विवेदीवाद दोनों की ही इसमें झलक है। **'मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे—सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है'** में द्विवेदीकालीन उपदेशात्मकता है तो प्रथम चार पंक्तियों में प्रकृति-चित्रण के छायावादी रूप की प्रारम्भिक झलक।

३

कानन कुसुम

प्रसाद ने आरम्भ में ब्रजभाषा में लिखना आरम्भ किया, पर समय की गति को देखते हुए वे शीघ्र ही खड़ी बोली मे भी लिखने लगे। उनकी खड़ी बोली की प्रथम ज्ञात कविता 'चित्र' है, जो 'इन्दु' कला २, किरण २ में १९१० में प्रकाशित हुई थी —

आशा तटनी का कूल नहीं मिलता है।
स्वच्छन्द पवन बिन कुसुम नहीं खिलता है।
कमलाकर में अति चतुर भूल जाता है।
फूले फूलों पर फिरता टकराता है।
मन को अथाह गम्भीर समुद्र बनाओ।
चंचल तरंग को चित से वेग हटाओ।
शैवाल तरंगों में ऊपर बहता है।

प्रसाद की प्रारम्भिक खड़ी बोली की रचनाओं का संग्रह 'कानन कुसुम' नाम से उपलब्ध है। इनकी रचनाओं में इसका स्थान प्रायः दूसरा समझा जाता है। इसके पूर्व 'चित्राधार' का। पर यथार्थतः इन दोनों को इस प्रकार स्पष्टतः दो कालों की रचना मानना पूर्णतया भ्रामक है। जैसा कि 'कानन-कुसुम' के उपलब्ध संस्करण पर लिखा है इसकी रचनाएँ मोटे ढंग से १९०९ से १९१६ तक की हैं। साथ ही 'चित्राधार' की भी, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इनके आरम्भिक कविता-काल से लेकर १९१४ तक। अर्थात् लगभग ५ वर्ष (१९०९ से १९१४ तक) का काल रचना-काल की दृष्टि से उभय-निष्ठ है।

इस प्रसंग में 'कानन कुसुम' के आरम्भिक और बाद के संस्करणों का अन्तर समझ लेना भी अनावश्यक न होगा। इसके प्रथम संस्करण पर प्रकाशन-

काल का उल्लेख तो नही था, पर इसकी कुछ कविताओं का 'इन्दु' मे १९१३ में निकलना तथा इसके आवरण पर 'सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक पुस्तक के विज्ञापन पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सम्मति, जो 'सरस्वती' (अप्रैल १९१३) से उद्धृत है, आदि बातों से अनुमान लगता है कि इसका प्रकाशन-काल १९१३ के पूर्व का नही हो सकता।

प्रथम संस्करण में ब्रज और खड़ी बोली दोनों ही की कविताएँ थी। साथ ही वे रीतिकालीन, भारतेन्दुकालीन. द्विवेदीकालीन तथा कुछ छायावादी इन चारो ही ढंगों की थी। इसमे प्रसाद जी की उर्दू बह्रो में लिखित 'भूल' शीर्षक एक ग़ज़ल भी थी—

सरासर भूल करते हैं उन्हें जो प्यार करते हैं।
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं।
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का,
किसी से पूछ लेते हैं, यही उपकार करते हैं।
जो ऊँचे चढ़ के चलते हैं, वे नीचे देखते हरदम
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते हैं।
न इतना फूलिये तरुवर सुफल कोरी कली लेकर
बिना मकरन्द के मधुकर नहीं गुञ्जार करते हैं।
'प्रसाद' उसको न भूलो, तुम्हारा जो कि प्रेमी है,
न सज्जन छोड़ते उसको जिसे स्वीकार करते हैं।

बाद के संस्करणों मे यह कविता नही है।

'कानन कुसुम' का दूसरा संस्करण 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण के अन्तर्गत १९१८ ई० में हुआ। यह संस्करण भी पहले से भिन्न था। पर, इसका (कानन कुसुम का) तीसरा संस्करण तो, जो १९२९ में किसी अन्य पुस्तक के अन्तर्गत न होकर एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप मे हुआ, बिलकुल ही बदल गया। परिवर्तन कई प्रकार के हुए। पहली बात तो यह है कि दूसरे संस्करण में सम्मिलित की गई 'खोलो द्वार', 'पाई बता' तथा 'निवेदन' आदि नौ रचनाएँ[1] इसमें से निकालकर 'झरना' मे रख दी गई। दूसरे पिछले संस्करणों में इसमें जितनी भी ब्रजभाषा की रचनाएँ थी, सभी 'चित्राधार' में आ गई। तीसरे 'धर्मनीति', 'गान' तथा 'महाकवि तुलसीदास' आदि १९१७ के पूर्व की रचित पर अप्रकाशित पाँच नई रचनाएँ इसमें जोड़ दी गई। इस जोड़ने-घटाने

---

[1] इतिवृत्तात्मक न होकर छायावादी ढंग की थी।

के अतिरिक्त भी परिवर्तन हुआ, जो कदाचित् अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है इसकी पुरानी रचनाओं में संशोधन। तीसरे संस्करण का 'प्रकाशक का वक्तव्य' था—"इस पुस्तक के गत दो संस्करणों से इस नवीन तृतीय संस्करण में, विशेषता यह है कि इसकी सभी कविताओं में प्रसादजी ने पुनः संशोधन, सम्बर्द्धन एवं परिवर्तन करके उन्हें नया चोला पहना दिया है।"

इस प्रकार सामान्य ढंग से 'कानन कुसुम' को प्रसाद की प्रारम्भिक खड़ी बोली की इतिवृत्तात्मकता-प्रधान रचनाओं का संग्रह कहा जा सकता है, पर उनके विकास में इसके आधार पर निष्कर्ष निकालने में दो बातों का ध्यान रखना बहुत ही आवश्यक है—(क) ये रचनाएँ मूलतः प्रारम्भिक रचनाएँ नही हैं, अपितु १९२९ के कुछ पूर्व कवि ने इनका संशोधन किया है, जैसा कि प्रकाशक के वक्तव्य से स्पष्ट है।[1]

अर्थात् इसकी कुछ विचार या कला की बाते १९०९ से १६ तक की न होकर १९२७-२८ की भी हो सकती है। (ख) इस विकास-क्रम का पूरा चित्र देखने के लिए 'चित्राधार' तथा 'झरना' की कुछ रचनाओं को भी सामने रखना आवश्यक है, अन्यथा कवि को इस काल में कुछ बातों में अपेक्षाकृत अधिक उन्नत तथा कुछ बातों में अवनत समझा जा सकता है।[2]

'कानन कुसुम' की कविताएँ कई प्रकार की हैं। कुछ तो आख्यानक हैं कुछ प्रकृति-विषयक, कुछ भक्ति-विषयक, कुछ प्रेम-विषयक, कुछ सामयिक और कुछ [illegible]।

'कानन कुसुम' की आख्यानक कविताएँ 'चित्रकूट', 'भरत', 'शिल्प-सौन्दर्य', 'वीर बालक', 'श्रीकृष्ण जयन्ती' तथा 'कुरुक्षेत्र' है। इनमें कुछ का आधार पौराणिक है और कुछ का ऐतिहासिक। चित्रकूट की कथा 'रामचरित-मानस' के अयोध्या काण्ड से ली गई है। भरत राम के दर्शनार्थ आते हैं।

---

[1] 'कानन कुसुम' के पिछले संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात करना उपादेय हो सकता है कि प्रसाद ने किस प्रकार के संशोधन किये हैं। इससे उनके विकास की दिशा के अच्छे संकेत मिल सकते हैं, पर इस छोटी-सी पुस्तक की सीमा में इस प्रकार विस्तार की बातें नहीं ली जा सकतीं।

[2] प्रसाद के 'लहर' के पूर्व के विकास को ठीक ढंग से देखने के लिए उनकी 'चित्राधार', 'कानन कुसुम' तथा 'झरना' आदि रचनाएँ उतनी उपादेय नहीं हैं, जितनी कि 'इन्दु' की फाइल; जिसमें उनकी रचनाओं को काल-क्रमानुसार अधिक व्यवस्थित ढंग से देखा जा सकता है।

लक्ष्मरण समझते हैं कि वे आक्रमरणार्थ आए हैं। वे राम से युद्धार्थ धनुष माँगते है, राम केवल मुसकराते हैं, इतने मे भरत आ जाते है—

चरण-स्पर्श के लिए भरत-भुज ज्यों बढ़े।
रामबाहु गलबीच पड़े सुख से मढे।

पूरी कविता बड़ी नाटकीय है। द्विवेदी-युग में जिस शृंगार को लोग बुरा समझते थे, उसे भी प्रसाद ने बड़े ही सुन्दर ढंग से यहाँ स्थान दिया है। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का चित्र भी मनोहर है।

'भरत' मे दुष्यन्त-पुत्र उस वीर बालक भरत की वीरता का चित्ररण है जिसके नाम पर अपना देश 'भारत' कहलाया। इसमें कथानक नहीं के बराबर है। भरत सिंह-शावक और सिंहनी से खेल-खेल में कहता है—

खोल गोल मुख सिंह बाल, मे देखकर
गिन लूँगा तेरे दाँतो को हैं भले
देखूँ तो कैसे यह कुटिल कठोर है

× × ×

देख वीर बालक के इस औद्धत्य को
लगी गरजने भरी सिंहनी क्रोध से
छड़ी तानकर बोला बालक रोष से
'बाधा देगी क्रीड़ा में यदि तू कभी
मार खायगी और तुझे दूँगा नहीं—
इस बच्चे को; चली जा अरी भाग जा।'

अन्त मे भरत की एक लम्बी प्रशस्ति के बाद कविता समाप्त हो जाती है। इसकी प्रेरणा सम्भवतः कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से मिली है।

'शिल्प-सौन्दर्य' का आधार ऐतिहासिक घटना है। इसमें कला की विजय दिखाना कवि का ध्येय है। औरंगजेब ने बहुत-से हिन्दू-मन्दिरों को गिरवा दिया या उन्हे मस्जिद में परिवर्तित करा दिया। प्रतिहिंसा की भावना से उत्तेजित सूर्यमल मोती मस्जिद को अपनी गदा से धराशायी करने को उद्यत हैं, पर फिर—

...रुक गए, हृदय भी रुक गया।
भीषणता रुककर करुणा-सी हो गई।
कहा—नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की

सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही
हो जायगी लुप्त। बड़ा आश्चर्य है
आज काम वह किया शिल्प-सौंदर्य ने
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता

कवि अन्त मे धर्म-जन्य प्रतिहिंसा के कुपरिणामों की ओर भी संकेत करता है। 'कुरुक्षेत्र' में कृष्ण के आरम्भिक गोप-जीवन से लेकर कुरुक्षेत्र में अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा देने तक की कथा अत्यन्त संक्षेप में है। इस पर गीता का स्पष्ट प्रभाव है। कुछ छन्द छायानुवाद-जैसे भी है। 'कर्मण्येवाधिकारः' वाले प्रसिद्ध श्लोक को—

कर्म जो निर्दिष्ट है हो धीर करना चाहिए।
पर न फल पर कर्म के कुछ ध्यान रखना चाहिए।

में देखा जा सकता है।

'वीर बालक' का सम्बन्ध सिक्ख-इतिहास से है। इसमें तथाकथित धर्म के असहिष्णु और विकृत रूप के प्रति पाठक के मन में घृणा उत्पन्न कराना कवि का लक्ष्य है। इसमें इस्लाम धर्म न स्वीकार करने के कारण जोरावर सिंह और फतेसिंह को दीवार में चुनवा देने की करुण और मर्मस्पर्शी कथा है।

'श्रीकृष्ण जयन्ती' मे कृष्ण के जन्म की रात का वर्णन है और फिर कृष्ण के अवतरित होने का। इसमें भी कथानक नही के बराबर है।

इन आख्यानक कविताओं को देखने से दो-तीन बातें स्पष्ट हो जाती है। प्रसाद अपने उस आरम्भिक काल में अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को पुराण और इतिहास से इस प्रकार के कथानकों को चुनकर व्यक्त कर रहे थे। इसके साथ ही उन्होंने किसी भी पुराने कथानक को इस ढंग से सामने नही रखा कि वह आज के बौद्धिक मानव के गले से न उतर सके। अर्थात् कथा के प्राचीन होने पर भी उनका निरूपण तथा दृष्टिकोण आधुनिक है। ये दोनों ही बातें द्विवेदीकालीन थी। मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य लोगों की आख्यानक कविताओं में भी ये है। पर इन दोनों के अतिरिक्त प्रसादजी की इन कृतियों मे कुछ ऐसा भी है जो उन्हे द्विवेदी-युग में होते और लिखते हुए भी उससे अलग कर देता है। यह है उनकी सांकेतिकता। उनकी ये कविताएँ आख्यानक होते हुए भी द्विवेदीयुगीन काव्यों की भाँति इतिवृत्तात्मक नहीं हैं। थोड़ी-सी कथा देकर अन्य बातें तथा उद्देश्य सांकेतिक रूप में दिये हैं। इस प्रकार इतिवृत्तात्मकता की कमी और सांकेतिकता उनकी आख्यानक कविताओं की प्रमुख विशेषता है। आख्यानक काव्य में यह स्थूल से

सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होना भी कहा जा सकता है। कहना न होगा कि यही प्रवृत्ति अपने चरम रूप में 'कामायनी' में प्रकट हुई है। 'कामायनी' अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण 'प्रिय प्रवास' तथा 'साकेत'-जैसी रचनाओं से स्पष्टतः भिन्न तथा बहुत आगे है।

प्रकृति का चित्रण कवि ने दो रूपों में किया है, एक तो पृष्ठभूमि रूप से, जैसे चित्रकूट आदि में; और दूसरे स्वतन्त्रतः प्रकृति-विषक कविताओं में, जैसे 'सरोज', 'रजनीगन्धा', 'ग्रीष्म का मध्याह्न' आदि मे। पृष्ठभूमि में चित्रित प्रकृति प्रायः परम्परानुमोदित है। स्वतन्त्र चित्रणों में कहीं तो चित्रण रहस्यात्मक ढंग का है। कवि को प्रकृति के पीछे महान् सत्ता आभासित होने लगी है। 'चित्राधार' में वह कुछ जिज्ञासु था। यहाँ भी है। 'महाक्रीड़ा' में कई पंक्तियाँ इस प्रकार की हैं। **'गा रहे हैं विहंगम किसके आने की कथा'** या **'हैं लताएँ सब खड़ी क्यों कुसुम की माला लिए'** आदि। बल्कि उसकी जिज्ञासा यहाँ बढ गई है और साथ ही प्रौढ़ भी हो गई है, पर उस जिज्ञासा का समाधान भी हो रहा है। **'लीला उसीकी जग में, सबमें वही समाया'** या **'तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वो देख सकता है चन्द्रिका को'**-जैसी पंक्तियों में प्रकृति के पीछे पुरुष का अनुभव उसे हो रहा है। 'मन्दिर' कविता में वह कहता है—

हर एक पत्थरों में वह मूर्ति ही छिपी है
× × ×
उसका अनन्त मन्दिर यह विश्व ही बना है।

प्रकृति-विषयक अन्य कविताओं में प्रकृति के किसी सुन्दर रूप का चित्र है। 'नववसन्त', 'रजनीगन्धा', 'सरोज' आदि में यही रूप है। पर इस सुन्दर रूप के साथ ही कवि का ध्यान प्रकृति के विकराल रूप की ओर भी गया है। 'ग्रीष्म के मध्याह्न' में कविता इसी प्रकार की है। इसमें कही तो **'चण्ड दिवाकर देख सती-छाया भी छिपती फिरती है'** और कहीं **'देखो वृक्ष शाल्मली का यह महा भयानक कैसा है'**-जैसे चित्र है। कहना न होगा कि 'चित्राधार' की तुलना मे यहाँ प्रकृति अपने अधिक व्यापक रूप में आ सकी है।

कहीं-कही द्विवेदीयुगीन प्रभाव के कारण कवि प्रकृति से शिक्षा भी लेता है। 'सरोज' से कहता है—

'निवास जल ही में है तुम्हारा तथापि मिश्रित कभी न होते।'
'मनुष्य निर्लिप्त होवें कैसे, सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है।

इस पूरे प्रकृति-वर्णन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं

रहता कि 'चित्राधार' का कवि प्रकृति-चित्रण में यहाँ आगे बढा है, पर अभी तक उसके प्रकृति-चित्रण में पर्याप्त सजीवता की कमी है। वह अधिक बाह्य तथा ऊपरी-सा है। हाँ, धीरे-धीरे कवि प्रकृति की आत्मा में प्रवेश करके, अपने भावी मनोरम तथा अप्रतिम प्रकृति-चित्रणों के लिए पृष्ठभूमि अवश्य तैयार कर रहा है। साथ ही आगे आने वाले रहस्यवादी कवि प्रसाद का प्रारम्भिक रूप भी 'कानन कुसुम' की प्रकृति-सम्बद्ध कविताओं मे यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है।

'महाक्रीड़ा' में कवि प्रकृति के चित्र खींचते-खींचते कहने लगता है—

हाँ कहो, किस ओर खिचते ही चले जाओगे तुम।
क्या कभी भी खेल तजकर पास भी आओगे तुम॥
नेत्र को यों मींच करके भागना अच्छा नहीं।
देखकर हम खोज लेंगे, तुम रहो चाहे कहीं॥

और प्रकृति को ब्रह्म की सचहरी के रूप मे देखता है—

दे के उषा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी।

'कानन कुसुम' की 'प्रभो', 'वन्दना', 'नमस्कार', 'विनय', 'करुण क्रन्दन' तथा 'याचना' आदि कुछ कविताएँ भक्ति-विषयक है। भक्ति-विषयक कविताएँ भी दो प्रकार की हैं। कुछ तो सामान्य कोटि की द्विवेदी-युगीन हैं, जिन्हे तुकबन्दी कहना अधिक उचित होगा। इस प्रकार की कविताओं मे 'विनय' प्रमुख है। कवि प्रभु से प्रार्थना करता है—

काट दो ये सारे दुख-द्वन्द।
न आवे पास कभी छल-छन्द॥
मिलो अब आके आनन्द कन्द।
रहें तव पद में आठों याम।
बना लो हृदय-बीच निज-धाम॥

इस श्रेणी की कविताओं में कवि 'दास' है। उसे चरणों में स्थान चाहिए। दूसरी श्रेणी की भक्ति-कविताएँ रहस्यवाद की ओर झुकी हैं। कवि सर्वात्मवादी है। उसे प्रमुख सत्ता सर्वत्र दिखाई पड़ती है और यह पूरा विश्व ही प्रभु का मन्दिर दिखाई पड़ता है। उनमें दर्शन है, सर्वधर्म समभाव की तत्कालीन बौद्धिकता है—

मस्जिद पगोडा गिरजा किसको बनाया तूने।
सब भक्त भावना के छोटे-बड़े नमूने॥

पर तन्मयता नहीं है। भाव के आवेश से ये कविताएँ रससिक्त नहीं है

दार्शनिकता की छौंक हृदय के भावों में तरलित होकर ही काव्य बन सकती है, पर अभी तक प्रसाद में उस स्थिति के दर्शन नहीं होते।

हाँ कहीं-कहीं प्रभु को वे अपने चितचोर के रूप में भी देख रहे हैं—

पर कहो तो छिपके तुम जाओगे क्यों, किस ओर को।
है कहाँ वह भूमि जो रक्खे मेरे चितचोर को॥

इसी प्रकार जैसा कि प्रकृति के प्रसंग में ऊपर कहा गया है, प्रकृति को उसकी कचहरी मानते हैं। और दोनों उनकी दृष्टि में साथ खेलते हैं—

नित्य नूतन रूप हो उसका बनाकर देखते।
वह तुम्हें है देखती, तुम युगल मिलकर देखते॥

कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिन्हें लौकिक-अलौकिक दोनों ही कहा जा सकता है। 'मर्म कथा' इसी श्रेणी की है। इसे यदि अलौकिक पक्ष में मानें तो कवि कबीर और तुलसी की भाँति 'मधुरा भक्ति' का उपासक ज्ञात होता है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

प्रियतम! वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए।
× × × ×
चुप रहकर मैं कह दूँगा सारी कथा॥
बीती है हे प्राण! नई जितनी व्यथा।
मेरा चुप रहना बुलावेगा तुम्हें॥
मैं न कहूँगा वह समझावेगा तुम्हें।
× × × ×
हम तुम जब है एक लोग बकते फिरें॥

प्रसाद की सौन्दर्य और प्रेम की भावना कुछ-कुछ सूफियों से प्रभावित है—

लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को। देखकर सौन्दर्य के इक बिन्दु को॥
किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयं सौन्दर्य है, सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है॥
जो पथिक होता कभी इस चाह में। वह तुरत ही लुट गया इस राह में॥
मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी। दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी॥

इसी दूसरे वर्ग की भक्ति-कविताओं में करुणा, पीड़ा और प्रेम के व्यापक रूप के भी संकेत है। इस रूप में इस वर्ग की रचनाओं में भावी कवि स्पष्ट ही झाँक रहा है।

'कानन कुसुम' की 'धर्म नीति' और 'गान' शीर्षक दो कविताओं में प्रसादजी का सहानुभूतिपूर्ण तथा व्यापक मानववादी विद्रोही स्वर सुनाई

पड़ता है। धर्म के सम्बन्ध मे कवि कहता है—

बाँधती हो जो विधि सद्भाव, साधती हो जो कुत्सित नीति।
भग्न हो उसका कुटिल प्रभाव, धर्म वह फैलावेगा भीति॥
भीति का नाशक हो तब धर्म।
नहीं तो रहा लुटेरा कर्म॥

दुखी मानवता उसका ध्यान आकर्षित करती है—

दुखी है मानव देव अधीर—देखकर भीषण भ्रांत समुद्र।

वह ऐसे युवकों के चिरंजीवी होने की कामना करता है—

जननी जिसकी जन्मभूति हो, वसुन्धरा ही काशी हो।
विश्व स्वदेशी, भ्रातृमानव हों, पिता परम अविनाशी हो॥

× × ×

खुले-किवाड़-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को।

× .× ×

जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो।
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का कल हो॥

कहना न होगा कि कवि का हृदय संसार की भिन्न-भिन्न प्रकार की विषमताओं को देखकर जैसे तिलमिला उठा है और वह तिलमिलाहट ही इन पंक्तियों में फूट पड़ी है। देश की दशा से वह विपन्न है और जन्मभूमि को जननी मानना आवश्यक समझता है, पर विशाल हृदय में सीमा को कहाँ स्थान ! 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पुनीत भारतीय प्रकाश उसका पथ प्रशस्त कर रहा है और दूसरे ही क्षण वह कह उठता है—"**विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हो···।**" प्रसाद की ये जीवनमयी कविताएँ निश्चय ही हिन्दी की प्रगतिवादी धारा का अक्षय शृङ्गार हैं।

'कानन कुसम' की प्रशस्तिपरक कविताओं में एक तो 'श्रीकृष्ण जयन्ती' है। जिस पर आख्यानक कविताओं के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। इस प्रकार की दूसरी कविता है 'महाकवि तुलसीदास'। इन कविताओं में कोई विशेषता नहीं है।

इस काल में प्रसाद ने कुछ सानेट भी लिखे थे पर वे 'कानन कुसुम' में नहीं हैं।

'कानन कुसुम' की भाषा खड़ी बोली है, पर अभी ब्रज के रूपों की बैसाखी के बिना उसका काम जैसे नहीं चल रहा है। व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी काफी हैं। भाषा में कुछ कविताओं को छोड़कर प्रवाह नहीं है। छन्द-

तुकान्त-अतुकान्त नये-पुराने दोनों ही हैं। उर्दू के ग़ज़ल तथा बंगला के पयार-जैसे छन्दों के भी प्रयोग हैं। भाषा की भाँति छन्दों में भी गति की कमी है। अलंकार पुराने और नये—

हम प्रेम-मतवाले बने, अब कौन मतवाले बने।
धीरे-धीरे उठे नई आशा-सी मन में॥

या

मनोवृत्तियाँ खग कुल-सी थीं सो रहीं।

दोनों ही प्रकार के हैं। कहीं-कहीं पुराने ढंग के अलंकार भार से है और उनके कारण शैथिल्य आ गया है। 'मकरंद बिन्दु' और 'चित्रकूट' इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

शैली में छायावादी अभिव्यंजना, कल्पना-विलास, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता तथा प्रतीकात्मकता आदि बातें भी कही-कहीं हैं जो आगामी अवस्था की सूचक हैं। कवि मलयानिल को प्रेम का प्रतीक मानकर

आहा अचानक किस मलयानिल ने तभी।
आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया मुझे॥

भावों की विविधता अंकित की है। उन पर संस्कृत, बंगला और उर्दू के प्रभाव भी कहीं-कही हैं। हिन्दी कवियों में भारतेन्दु से भी कवि प्रभावित हैं।[1]

---

[1] ये प्रभाव कुछ कविताओं तथा समर्पण में स्पष्ट हैं—

भारतेन्दु के 'मधु मुकुल' का समर्पण है—

हृदय वल्लभ !

यह मधु-मुकुल तुम्हारे चरण-कमल में समर्पित है, अंगीकार करो। इसमें अनेक प्रकार की कलियाँ है, कोई स्फुटित, कोई अस्फुटित, कोई अत्यन्त सुगन्धमय, कोई छिपी सुगन्ध लिये······

तुम्हारा
हरिश्चन्द्र

प्रसाद के 'कानन कुसुम' का समर्पण है—

प्रियतम,

···इसमें रंगीन और सादे, सुगन्ध वाले और निर्गन्ध···सभी तरह के कुसुम है।···भला ऐसी वस्तु को तुम न ग्रहण करोगे तो कौन करेगा।

तुम्हारा
प्रसाद

'इन्द्रधनुष', 'चन्द्रोदय' तथा 'प्राभातिक कुसुम'-जैसी कुछ कविताओं के भाव छायावादी ढंग के हैं।

निष्कर्ष स्वरूप, 'कानन कुसुम' भाव, विचार, कल्पना तथा कला सभी दृष्टियों से नवीनता और प्राचीनता के संगम पर खड़ा है। ब्रजभाषा की रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ इसमें बहुत कम है। द्विवेदीयुगीन कुछ अधिक हैं, पर उन्हें छोड़कर छायावाद की ओर कवि बढ़ रहा है। 'निराला' की तरह क्रान्ति करते हुए नही, अपितु धीरे-धीरे।

४

प्रेम-पथिक

'प्रेम पथिक' के आज दो रूप उपलब्ध हैं। एक ब्रजभाषा का, जो अपेक्षाकृत पुराना है और दूसरा खड़ी बोली का। ब्रजभाषा मे रचित 'प्रेम पथिक' का कुछ भाग 'इन्दु', कला १, किरण' २ (१९०९) में प्रकाशित हुआ था। प्रसादजी ने खड़ी बोली में लिखित 'प्रेम पथिक' की भूमिका सं० १९७० में लिखी। उसमें लिखा है कि ८ वर्ष पहले वे उसकी रचना ब्रजभाषा में कर चुके थे। इसका आशय यह हुआ कि इसकी रचना लगभग सं० १९६२ में प्रकाशित होने के चार वर्ष पूर्व ही, जब कवि लगभग १६ वर्ष का था, हो चुकी थी।[1] और इस प्रकार यह रचना 'चित्राधार'-काल के बाद की न होकर उसी के बीच की, बल्कि प्रायः प्रारम्भ की है।

यों तो ब्रजभाषा में लिखित 'प्रेम पथिक' का जितना अंश उपलब्ध है, अपने-आपमें वह पूरा है, पर खड़ी बोली के 'प्रेम-पथिक' की भूमिका में प्रसाद जी ने लिखा है—

> **"···यह काव्य ब्रजभाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था, जिसका कुछ अंश 'इन्दु' के प्रथम भाग में प्रकाशित हुआ था।"**

इससे यह पता चलता है कि पूरी रचना और बड़ी था। दुःख है कि आज उसके केवल 'इन्दु' मे प्रकाशित अंश (जिसमें केवल १३६ पंक्तियाँ है)

---

१. यह कहना कठिन है कि १६ वर्ष की आयु में लिखी गई रचना ही ज्यों-की-त्यों २० वर्ष की अवस्था में 'इन्दु' में छपी। मुझे लगता है कि इस रचना पर प्रसाद जी ने तीन बार हाथ लगाया। एक बार १६ वर्ष की आयु में रचना की। फिर २९ वर्ष की आयु में संशोधन करके 'इंदु' में दिया, फिर तीसरी बार २४ वर्ष की आयु में खड़ी बोली में इसको परिवर्तित-परिवर्द्धित किया।

ही उपलब्ध है, शेष अंश खो गए। पूरी रचना इससे लगभग दूनी रही होगी, क्योंकि उसके खड़ी बोली के रूप मे २७० पंक्तियाँ है।

ब्रजभाषा का 'प्रेम-पथिक' एक छोटा-सा खण्ड काव्य रहा होगा, पर उसके उपलब्ध अंश में एक छोटी-सी यात्रा और फिर बातचीत-मात्र है। बिना किसी भूमिका आदि के यह आरम्भ होता है—

छाड़ि कै अभिराम अति सुखधाम चारु अराम।
पथिक इक कीन्हों गमन सुप्रवास को अभिराम॥

वह पथिक अपने गाँव की सीमा पर खड़ा होकर, व्यथित होकर ग्राम के सौन्दर्य को देखता है और फिर ग्राम-देवता को प्रणाम करके आगे बढ़ जाता है। रास्ते में धूप अधिक हो जाने पर वह एक वट की शीतल छाया में बैठ जाता है। पपीहा 'पीकहाँ' बोलता है। सुनकर पथिक को अपनी प्रेयसी का ध्यान आ जाता है। वह वहाँ से फिर आगे बढ़ता है। रास्ते में एक तालाब के किनारे वह अपनी प्यास बुझाता है और फिर एक मरुस्थल में पहुँचता है और दुःखी होकर बैठ जाता है। वहाँ की सभी चीजें उसे सूखी दिखाई पड़ती हैं। सोचने लगता है—

हा रस मेघ न स्रवत वारि क्यों मीत।
आशा लता निरखि हम होत सभीत॥

× × ×

तपन ताप सों सब तन झरसत जाहि।
छाले पड़िगे सोचत चित मद माँहि॥

इसी बीच एक पुरुष उसके सामने आता है और कहता है—

अहो पथिक यह सोई उपवन कुञ्ज।
जामें भूलि धरे नहिं पग अलि-पुञ्ज॥
मत्त कल्पना अलि सम मत गुञ्जार।
यहि तरु में है नहिं कोउ कुसुमित डार॥

इस रूप में वह उस पथ की कठिनाइयों का परिचय देता है और अन्त में कहता है—

लखि सुकुमार तुम्हें हम शिक्षा देत।
फिरहु पथिक यह मग अति दुःख निकेत॥

यह सुनकर पथिक उससे पूछता है कि तुम कौन हो। आगन्तुक कहता है, 'मैं प्रेम हूँ।' यह सुनकर पथिक कुछ व्याकुल, रुष्ट और दुःखी होकर कहता है—

इतने दिवस कियो मोहि अति हैरान।
आज लग्यो शुभ शिक्षा देन महान॥

प्यारे के दृग में बनि तीखो सान।
पहिले मार्‌यो मेरे हिय में बान॥
भर्‌यो हलाहल कारो पुतरिन माँह।
गोली बनि बेधत हिय मिलन न छाँह॥
कारी लाँबी लट मे बनि के फाँस।
फाँसत है तहँ तेरी ही है बास॥
हाय! अरे वा सुधा सनी मुसक्यान।
अधरन में बनि बस दामिनी समान॥
अरुणाई झलकत जो बीच कपोल।
तेरोई प्रतिबिम्ब लखै चित लोल॥
तोहिं न आवत दया सु हिया कठोर।
बिरह तपावत अगहिं निसि अरु भोर॥

वह आगे फिर कहता है कि तुम्हारा छल-बल अब ज्ञात हुआ। नल-जैसे लोग तुम्हारे ही जाल मे फँसे थे। शकुन्तला, दमयन्ती, गन्धर्व, नर और किन्नर आदि सभी—

तेरे तीरथ में करि मज्जन आस।
भए तृप्त नहिं कबहूँ बुझी न प्यास॥

× × ×

कंठ विगत किय प्रानहि दीनहिं क्रूर।
अपने जन को मारत बनिके सूर॥

यह सब सुनकर प्रेम ने हँसकर कहा कि तुम तो अब मेरे बन्धन में हो धैर्य धारण करो—

पथिक धीर धरि चलिए पथ अति दूर।
ह्वै कटिबद्ध सदा सनेह में चूर॥

प्रेम की इन बातों को सुनकर पथिक को जैसे एक नई शक्ति-सी मिल गई। उसने कृतज्ञ होकर प्रेम से कहा, 'तुम्हारे समान और कोई नही है। तुम शंका, दृढता, हर्ष-शोक आदि सभी एक साथ हो।'

उसने अपने अनुभव के आधार पर मीरॉ से भी एक कदम आगे बढकर किसी को प्रेम का नाम न लेने की सलाह दी।

इसका उपलब्ध अंश केवल यही है। आगे-पीछे क्या था, यह कहना कठिन है।

आज 'प्रेम पथिक' का जो खड़ी बोली मे प्रकाशित रूप है, वह इससे

बहुत ही भिन्न है, यद्यपि उसे प्रसादजी ने इसीका खडी बोली में परिवर्तित-परिवर्धित रूप कहा है। खड़ी बोली वाले रूप पर आगे विचार किया जायगा।

'प्रेम-पथिक' का यह ब्रज वाला रूप कल्पना, शैली, सन्देश, छन्द आदि कई दृष्टियों से उस युग में असामान्य तथा बहुत आगे और इस रूप मे पथ-प्रदर्शक-सा था। प्रेम का मानवीकरण करके उसका किसी मनुष्य से वार्तालाप कराना, साकेतिक शैली मे प्रेम का स्वरूप-विवेचन तथा सन्देश एवं छन्द का अतुकानता की ओर धीरे-धीरे बढ़ना[1] आदि चीजें पर्याप्त नही थी। सोलह वर्ष के बाल-कवि से इतनी असामान्यताएँ आशा से अधिक ही कही जायँगी। कही-कहीं तो कवि की प्रौढ़ता आश्चर्य-चकित करने वाली है। यथार्थ प्रेम की भाषा मौन है, किसी भी प्रेम के कारण मनुष्य के प्राण चैतन्यता से भरे रहते है। यह विरोधाभास है। कवि के शब्दों में प्रेम इसी बात को किस सांकेतिकता से व्यक्त करता है—

यह वह श्रमशाला है, रहे जो सून।
सून रहै पै कलरव नित-प्रति दून॥

प्रेम का संसार सूना होता हुआ भी कलरव से आपूरित है।

काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का अत्यधिक प्रचार होते देखकर साथ ही विषय की दृष्टि से खडी बोली की आने वाली कविता—जिसके अंकुर स्पष्ट हो रहे थे—के उपयुक्त पाकर प्रसादजी ने ब्रजभाषा मे लिखित 'प्रेम पथिक' को, जिसका कुछ अंश 'इन्दु' में निकल चुका था, लगभग २४ वर्ष की अवस्था में खडी बोली में रूपान्तरित किया, साथ ही उसमें पर्याप्त परिवर्तन-परिवर्द्धन भी किये और यह रचना प्रथम बार १९१४ में प्रकाशित हुई।

खड़ी बोली का 'प्रेम पथिक' अतुकान्त छन्दों में लिखा गया दो सौ सत्तर पंक्तियों का एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है। इसकी कथा संक्षेप मे निम्नांकित है—

इस छोटी-सी पुस्तक के आरम्भ में लगभग तीन पृष्ठों की एक भूमिका है, जिसमे प्रमुखतः प्रकृति-चित्रण तथा उसके आधार पर कुछ वैराग्यपरक बातें है। इसके बाद एक कुटी का दृश्य सामने आता है। उसमें एक तापसी है। एक पथिक भी वहाँ पहुँचा है। रात हो रही है। तापसी अतिथि-सत्कार से प्रेरित होकर उसे रुकने का अनुरोध करती है—

---

[1] इसमें 'चारु', 'उद्गार' 'धारि'-जैसे तुक भी है, जिन्हें पूर्ण तुक नहीं कहा जा सकता।

'भद्र पथिक ! अब रात हो गई, पथ चलने का समय नहीं ।
पर्ण कुटीर पवित्र तुम्हारा ही है, कुछ विश्राम करो ।
फल जल आसन सभी मिलेगा जो प्रस्तुत है मेरे पास ।'

पथिक रुक जाता है । 'आप कौन है, क्यों भद्रवेश धारण किया है ।'-जैसे प्रश्न स्वाभाविक रूप से तापसी द्वारा पूछे जाते है । इन सबका पूरा उत्तर पथिक की आत्म-कथा से कम क्या हो सकता है ? वह अपनी आत्म-कथा संक्षेप में सुनाता है—

'आनन्द नगर नाम के एक सुन्दर नगर का मै निवासी हूँ । मेरे पिता और उनके एक मित्र कही अगल-बगल मे रहते थे । मेरे पिता के मित्र की एक कन्या थी जो मेरी मित्र थी । हम दोनों नित्य-प्रति एक साथ खेलते थे ।'

इतना सुनकर तापसी किसी अज्ञात कारण से कुछ पुलकित हो उठती है और पथिक का नाम जानने को आकुल हो जाती है । पथिक यह कहकर कि आत्म-कथा सुनाने के बाद नाम बतलाऊँगा, आगे की कहानी कहने लगता है—

'कुछ दिन बाद मेरे पिता का देहान्त हो गया । मरने से पूर्व वे मुझे अपने मित्र को सौप गए थे । इस प्रकार मै पिता की मृत्यु के बाद उसी घर में रहने लगा और अपनी बालिका मित्र के और भी निकट आ गया । बड़े होने पर उसके पिता ने उसका विवाह किसी और से कर दिया । उस समय तक हम लोग एक-दूसरे के बहुत निकट आ चुके थे । मेरी मित्र चमेली अपनी ससुराल चली गई और मैं—

'भग्न हृदय उस गृह से बिछुड़ा, जैसे टूटा फल तरु से' भी अपनी जन्मभूमि से विदा हो गया—

हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षों को कुसुमित देख नितांत
उनसे भी आलिगन करके किया प्रणाम विदाई का ।
छोड़ दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम-पथ-पथिक हुआ ।

तब से मै चलता आया हूँ । बीच मे एक दिन चाँदनी रात में एक पर्वत-शिला पर बैठा मैं बादल के बीच चाँद की आँखमिचौनी देख रहा था कि चाँद से मेरा ध्यान अपनी मित्र चमेली पर चला गया और

धीरे-धीरे बीती बातें याद लगीं पड़ने मुझको—
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न-सदृश थे बीत गए
सचमुच तन्द्रा-सी मुझको फिर लगी, मोह में मुग्ध हुआ ।
देवदूत-सा चन्द्रबिंब से एक व्यक्ति उज्ज्वल निकला,

और उसने मुझसे कहना शुरू किया—

"पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे;

× × × ×

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति-मात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है ।

× × × ×

प्रेम, जगत् का चालक है इसके आकर्षण में खिंच के
मिट्टी का जल-पिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अन्तर में
रखते हैं आनन्द सहित, है इसका अमित प्रभाव महा ।
इसके बल से तरुवर पतझड़ कर वसन्त को पाते हैं
इसका है सिद्धान्त—मिटा देना अस्तित्व सभी अपना ।

इतना कहकर वह अन्तर्धान हो गया और मेरे लिए नई चेतना का प्रकाश मिला ।'

इतनी कथा सुनते-सुनते तापसी उसे पहचान चुकी थी । तापसी ही चमेली थी । पथिक का नाम किशोर था । चमेली अब अपने को न रोक सकी और उसने पूछ ही लिया कि 'ऐ किशोर ! क्या तुम्हे अब भी चमेली का ध्यान बना है' अपना नाम सुनकर किशोर भी पहचाने बिना न रह सका ।

चमेली ने भी विवाह के बाद की आपबीती सुना दी । पति के साथ वह सुखी नहीं थी । वह धनमद में चूर था । आगे चलकर वह विधवा हो गई । विधवा होने पर उसके पति के मित्र उसे परेशान करने लगे और अन्त मे उसका त्राण एक वृद्ध ने किया । उसीने उसे वह झोंपड़ी दी, जिसमें वह उस समय थी ।

दोनों ने दोनों की करुणा कथा सुनी । किशोर ने चमेली के पथ को इन शब्दों मे प्रशस्त किया—

सुनो चमेली भूलो बीती बातों को मन से धोकर
स्वच्छ बनो आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो होकर निष्काम ।
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है ।

कहा अभी तुमने 'साथी खग-मृग ही मेरे हुए यहीं'
किन्तु न परिमित करो प्रेम- सौहार्द्र, विश्व-व्यापी कर दो।
क्षणभंगुर सौन्दर्य देखकर रीझो मत, देखो! देखो!!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व-मात्र में छाई है।

× × × ×

न्योछावर कर दो उस पर तन, मन, जीवन, सर्वस्व; नहीं—
एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर।
उस सौन्दर्य-सुधा-सागर के कण हैं हम-तुम दोनों ही
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर।

और अन्त में—

"चलो मिलें सौन्दर्य-प्रेम निधि में"—तब कहा चमेली ने।
"जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है—वहाँ सदा स्वच्छन्द रहें।"

'प्रेम-पथिक' की यह छोटी-सी कथा पहले की 'अयोध्या-उद्धार' या 'वन-मिलन'-जैसी रचनाओं की भाँति ऐतिहासिक या पौराणिक न होकर काल्पनिक है, पर यह कथा-कल्पना प्रसाद की पूर्णतः अपनी चीज नहीं है। इस पर अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' नाम के 'कथा-काव्य का स्पष्ट प्रभाव है।

यों तो प्रसादजी की गति, जैसा कि उनके परिचय में कहा जा चुका है, अंग्रेजी में भी अच्छी थी, पर इसके अतिरिक्त उनके समय तक गोल्डस्मिथ का हरमिट' श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित होकर 'एकान्तवासी योगी' नाम से भी प्रकाशित हो चुका था[1], और हिन्दी-संसार ने उसका अच्छा स्वागत किया था। ऐसी स्थिति में प्रसाद को इस रचना से अपरिचित नहीं माना जा सकता। प्रसादजी के, श्रीधर पाठक द्वारा किये गए अंग्रेजी से अनुवादों (जैसे ऊजड़ग्राम डेज़र्टेड विलेज) या 'श्रान्त पथिक' (ट्रैवलर) परिचित होने का एक और भी सुन्दर प्रमाण है। उन्होंने 'इन्दु' (कला २, किरण १) में 'कवि और कविता' शीर्षक एक लम्बा लेख लिखा था, जो अभी तक उनके किसी भी संग्रह में नहीं आया है, यद्यपि यह कविता के सम्बन्ध मे उनके तत्कालीन विचार को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस निबन्ध मे उन्होने भावमयी कविता के दो विभाग किये है—(१) कथामूलक, (२) भावमूलक। कथामूलक कविता के अन्तर्गत उन्होने 'ऊजड़ ग्राम' को स्थान दिया है।

---

[1] इसका प्रथम संस्करण १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

ये तो थे प्रभाव एवं प्रेरणा के बाह्य प्रमाण। 'प्रेम पथिक' और 'हरमिट' (एकांतवासी योगी) की कथा तथा अन्य बातों पर तुलनात्मक दृष्टि डाल लेना भी यहाँ अनुपयोगी न होगा। हरमिट की कथा सक्षेप मे इस प्रकार है—जंगल मे एक वैरागी रह रहा है। एक दिन उससे रात के समय भूलता-भटकता कोई पथिक मिलता है और वह रास्ता तथा दूर पर जलती हुई आग के बारे मे भी पूछता है। वैरागी आग को भ्रामक बतलाता है तथा रात मे अपनी कुटिया मे विश्राम करने का अनुरोध करता है। दोनों कुटिया मे पहुँचते है। वैरागी देखता है कि पथिक बहुत खिन्न तथा शोकग्रस्त है। स्वागत-सत्कार से भी उसकी खिन्नता कम नहीं होती। इस पर वह पूछता है कि तुम क्यों दुखी हो। क्या कोई तुम्हारा प्रिय तुमसे बिछुड़ गया है या मैत्री मे तुमने कही धोखा खाया है। इसी प्रसंग में वह सांसारिक मैत्री को धोखा आदि भी कहता है। यह भी कहता है कि यदि तुम किसी के प्रेम में पड़कर दुखी हो, तो यह तुम्हारी गलती है। इस पृथ्वी पर सच्चे प्रेम का वास कहाँ। आकाश के फूल की भाँति इसकी आशा व्यर्थ है। बाद मे योगी को पता चला कि पथिक पुरुष न होकर स्त्री है। उस स्त्री ने भी जान लिया कि मेरा रहस्य योगी के सामने स्पष्ट हो चुका है और वह अपने छद्म वेश के लिए क्षमा माँगने लगी। उसने अपना परिचय देते हुए बतलाया कि 'टाइन नदी के किनारे मै अपने सम्पत्तिशाली पिता के साथ रहती थी। माँ के स्वर्गवासी हो जाने के कारण उनका मेरे प्रति अत्यधिक प्रेम था। ज्यों-ज्यों मै युवा होने लगी, मेरे ऊपर अपना हृदय लुटाने अनेक युवक आने लगे। उन अनेक में से एक एडविन भी था। वह बाहर और भीतर दोनो ही ओर से सुन्दर था। पर मैंने उसके इन गुणों की ओर ध्यान नही दिया और अपने मैं अहकार के कारण उसकी अवहेलना करती रही। उसका प्रेम निश्चय ही अधिक गम्भीर और यथार्थ था, पर मेरे शुष्क व्यवहार से उसे बहुत निराशा हुई और अन्त मे वह चला गया। उसके जाने के बाद मुझे अपनी गलती महसूस हुई। अब प्राण देकर भी उससे उऋण होना चाहती हूँ।'

वहाँ उपस्थित वैरागी ही एडविन था। उसने 'अंजलैना' को बाहुपाशों मे भर लिया और युगों के बिछुड़े वियोगी मिल गए। एडविन भी उसी-के प्रेम मे वैरागी बन गया था।

अन्त में कवि ने (अनुवादक श्रीधर पाठक के शब्दों में) कहा है—

परम प्रशस्य अहो प्रेमी ये, कठिन प्रेम इनने साधा।
इस अनन्यता सहित धन्य अपने प्यारे को आराधा॥

प्रेम वियोग परितापित होकर दिया सभी कुछ त्याग।
वन वन फिरना लिया एक ने दूजे ने वैराग।।
धन्य अंजलैना तेरा व्रत, धन्य एडविन का यह नेम।
धन्य-धन्य यह मनोदमन, और धन्य अटल यह उनका प्रेम।।
रहो निरन्तर साथ परस्पर भोगो सुख आनन्द।
जुग-जुग जियो जुगल जोड़ी मिल पियो प्रेम मकरंद।।

'हरमिट' और 'प्रेम पथिक' के कथानको की तुलना से स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि दोनों मे काफी साम्य है। दोनों ही पथिकों का घर नदी के किनारे है और दोनों ही प्रेम-पथ के पथिक रूप में योगी बनकर निकल पड़ते है। दोनो ही में उनके प्रेम-पात्र पहले से उनके मार्गस्थ जंगल में विराजमान हैं, दोनों ही में जगल मे स्थित व्यक्ति द्वारा रात-भर रुकने का अनुरोध किया जाता है और अन्त में बातचीत में परिचय होने पर बिछुड़े प्रेमी मिल जाते हैं। कथानक की इस समता के अतिरिक्त प्रकृति का चित्रण, विश्व में मैत्री के यथार्थ न होकर स्वार्थपूर्ण होने का उल्लेख तथा प्रेम का निरूपण आदि कुछ अन्य बाते भी प्रायः समान है।

पर इन समानताओं के साथ ही 'प्रेम पथिक' की कुछ बातें 'हरमिट' से भिन्न भी हैं। सबसे प्रमुख भिन्नता तो यह है कि 'हरमिट' में योगी पुरुष है, पर 'प्रेम पथिक' में उनके स्थान पर स्त्री तापसी है। कथा को अधिक मार्मिक बनाने के लिए ही कदाचित् कवि ने यह परिवर्तन किया है। इसी प्रकार 'हरमिट' मे यूरोपीय संस्कृति के अनुसार अंजलैना के किशोरावस्था पार करने पर बहुत-से युवक उसके प्रेम के इच्छुक बनकर आते है, पर 'प्रेम पथिक' में इस प्रकार की कोई बात नही है। भारतीय संस्कृति के अनुसार यहाँ चमेली का विवाह उसका पिता एक धनी-मानी व्यक्ति से कर देता है, जिससे चमेली पहले से परिचित नही है। कहना न होगा कि यह अन्तर कथा को भारतीय रूप देने के लिए ही किया गया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य छोटे-मोटे अन्तर भी है।

इन बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रसादजी ने 'हर्रामट' या उसके अनुवाद 'एकान्तवासी योगी' से प्रेरणा ग्रहण की और उसीके आधार पर अपने अनुकूल कथानक का निर्माण किया, पर इस प्रेरणा और प्रभाव के बावजूद भी 'प्रेम पथिक' की जो विचार या दर्शन की दृष्टि से प्रौढ़ता है उसकी 'हरमिट' से कोई तुलना नही। प्रसाद ने इसमें प्रेम का ऐसा सन्देश दिया है जो अप्रतिम और बहुत ही उच्च है। तत्त्वतः इस रचना की अस्थि-मात्र ही

प्रभावित है, शेष सारी चीजों—प्राण, स्पन्दन और मासलता—की दृष्टि से इसमें पर्याप्त मौलिकता है और प्रसाद के विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप भी।

'प्रेम पथिक' के प्राप्त ब्रजभाषा रूप से भी यह खडी बोली का रूप पर्याप्त भिन्न है। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, पहली उल्लेख्य बात तो यह है कि यह उससे आकार में लगभग दूना है। दूसरे उसमें 'प्रेम पथिक' की कथा गृह-त्याग के पश्चात् अन्य पुरुष मे कही गई है, पर यहाँ पथिक ने अपनी कहानी उत्तम पुरुष में सुनाई है। साथ ही इसमें चमेली भी अपनी कहानी संक्षेप में सुनाती है जिसको उसमें स्थान नहीं मिला है। इस प्रकार की छोटी-मोटी बातों का अन्तर तो है ही, पर रचना स्तर की दृष्टि से भी दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रज रूप का खड़ी बोली रूप मे विकास हुआ है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। पहले में प्रेम एक मनुष्य के रूप में पथिक के समक्ष आ खडा होता है और दोनों का सम्भाषण होता है। ये दोनों बातें अविश्वसनीय हैं। दूसरे तक आते-आते प्रसाद का कलाकार अधिक सजग हो गया है अतएव वह इन सारी बातों को एक मनोवैज्ञानिक भूमिका में रखकर काव्यसम्मत तथा स्वाभाविक बना देता है। चाँदनी रात में पथिक किशोर को चन्द्रमा तथा उस दृश्यादि को देखकर तो चमेली के निर्मल प्रेम की बातें याद आती हैं और उसे तन्द्रा-सी आने लगती है। इस तन्द्रा की अवस्था मे ही चन्द्रबिम्ब से प्रेम देवदूत-सा निकलकर कोमल कण्ठ में सारी बातें कहता-सा ज्ञात होता है। विचार-तत्त्व की दृष्टि से प्रेम, जगत्, ब्रह्म आदि के विषय में जो आनुषंगिक बातें कही गई हैं, वे ब्रज वाले रूप में या तो है ही नहीं, या हैं भी तो बड़े अप्रौढ़ या अविकसित रूप में।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'प्रेम पथिक' का अन्तिम रूप पूर्वरूप का भाषा की दृष्टि से मात्र परिवर्तित रूप न होकर परिवर्द्धित और साथ ही सुविकसित रूप है।

'प्रेम पथिक' प्रसादजी की प्रथम प्रौढ़ रचना है। साथ ही विचार, भाव, अभिव्यंजना और कल्पना आदि की दृष्टि से छायावाद की सभी विशेषताएँ सर्वप्रथम इसीमें समाहित दृष्टिगत होती हैं। प्रेम, यौवन, सौन्दर्य और आनन्द के इस अमर गायक ने इसकी रचना करने तक, लगता है कि उपनिषदों, शैव-ग्रन्थों तथा कुछ सूफ़ी सिद्धान्तों का अध्ययन ही नहीं कर लिया था, अपितु मनन और चिन्तन द्वारा उन्हें पचाकर अपना भी बना लिया था। उन प्रौढ़ सिद्धान्तों के पाचित रूप की ही काव्योचित अभिव्यक्ति 'प्रेम पथिक' में

यत्र-तत्र बिखरे सिद्धान्तों में हुई है। यहाँ संक्षेप मे उन्हें देखा जा सकता है। प्रकृति को देखकर जिज्ञासा का भाव कवि में आरम्भ से आ रहा है। वह कुछ अंशों मे यहाँ भी है—

छोटे-छोटे कुसुम श्यामला धरणी मे किसका सौन्दर्य
इतना लेकर खिलते हैं, जिन पर सुन्दरता का गर्व
मानव भी मधु लुब्ध मधुप-सा सुख अनुभव करता फिरता।

पर साथ ही 'कानन कुसुम' की भाँति यहाँ भी यह जिज्ञासा ऐसी नही है, जिसका उत्तर उसने नही पाया हो। वह सर्वात्मवादी की भाँति—

विश्व स्वयं ही ईश्वर हैं।

की घोषणा करता है और सूफियों की भाँति विश्व के सभी सौन्दर्य मे उस सुन्दरतम ब्रह्म के सौन्दर्य की झलक देखता है—

उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व-मात्र में छाई है।

जायसी ने भी लिखा है—

कवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।

इस प्रसंग में एक और बात भी उल्लेख्य है। कवि का बल अब प्रकृति से अधिक मानव पर है। पर उसका मानव एक मानव तक सीमित नही। वह पूरी मानवता है। इसीलिए प्रेम के प्रसंग मे इसका परिमित रूप नही जो व्यक्ति-मात्र में बना रहे, क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबकी समता है, वह यही बात प्रकारान्तर से कहता है। ऐसी स्थिति में 'मानव ही उसका ईश्वर है', कहा जाय तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद का मानव-व्यापी रूप यही हो सकता है, साथ ही यही युगानुकूल भी है। इस प्रकार के विचार के निर्माण में सम्भव है कवि पर बँगला और अँग्रेजी साहित्य का या यूरोपीय विचार-धारा का भी प्रभाव पड़ा हो। इसी आधार पर वह वैयक्तिक प्रेम से ऊपर उठकर विरह को चुनौती भी देने को कहता है—

यह जो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्द्धी है
यही व्यक्तिगत होता है, पर प्रेम उदार अनन्त अहो

× × ×

प्रियतम मय यह विश्व निरखता फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग-भर में
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।

कहना न होगा कि यह स्थिति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से भी एक कदम आगे की है।

कवि का प्रेम भी विशिष्ट है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि

वैयक्तिकता से वह मानव-मात्र के प्रति विकसित होता है[1] और तब इससे और केवल इसीसे आनन्द की प्राप्ति होती है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन मे टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्द-भूमि मे जिसकी सीमा कहीं नहीं ।

इस असीम प्रेम को ही कवि सबसे बड़ी शक्ति मानता है—

प्रेम जगत का चालक है, इसके आकर्षण मे खिचके
मिट्टी वा जलपिंड सभी दिन-रात किया करते फेरा ।[2]

पर साथ ही इस प्रेम का पथ कठिन भी है—

घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुए ।

स्वार्थ और कामना से विहीन होकर ही मानव इस पर चल सकता है—

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा ।

प्रेम मे आत्म-समर्पण करना होता है । प्रसाद की दृष्टि में प्रकृति भी ब्रह्म से उस रूप मे बँधी है और वह भी आत्म-समर्पण करती जा रही है । सूफियों के अनुसार प्रकृति भी ब्रह्म के विरह मे संतप्त है । जायसी कहते है—

विरह के आगि सूर जरि कांपा ।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ।।

इस प्रकार प्रसाद का प्रेम बहुत व्यापक, समुन्नत, मनुष्य को उन्नत बनाने में सबसे बड़ा सहायक एव आनन्ददाता है ।

प्रसाद ने इसमें सुख-दु.ख, मैत्रा, नीच तथा अन्य भी बहुतों के विषय में बड़ी अनुभव-सूक्तियाँ कही है । जिनसे उनके व्यापक अनुभव का पता चलता है ।

'प्रेम-पथिक' का छन्द-विधान स्वच्छन्द है । यह अतुकान्त है । मात्राएँ ३० है । इसमें संगीतात्मकता भी है ।

इसकी भाषा भी पर्याप्त प्रौढ है, यद्यपि व्याकरणिक अशुद्धियाँ यत्र-तत्र हैं ।

नवीन अन्तःकरण-विधान तथा स्वाभाविकता के कारण 'प्रेम-पथिक' की कला में पर्याप्त नवीनता है । कुछ उदाहरण है—

---

[1] किन्तु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द्र विश्व-व्यापी कर दो ।

[2] Anon ने भी कहा है—Its love its love that makes the world 10 round.

मूर्त्त का अमूर्त्त विधान

अमूर्त्त उपमानों द्वारा स्थूल का प्रत्यक्षीकरण—

दया स्रोत-सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता।

अथवा

सच्चा मित्र कहाँ मिलता है दुखी हृदय की छाया -सा ?

लाक्षणिकता

बना रही है सोने का संसार तपन की पीत विभा।

इस प्रकार सभी दृष्टियो से 'प्रेम पथिक' अपने युग की बहुत सफल तथा प्रतिनिधि रचना है। कवि प्रसाद की रचनाओं मे ऊपर सांकेतिक दृष्टियों से तो इसका महत्त्व है ही, पर सबसे अधिक महत्त्व इस दृष्टि से है कि प्रसाद के कवि का प्रौढतम रूप हिन्दी को या मानवता को कला या विचार आदि के क्षेत्र में जो दे सका है उन सबके आरम्भिक सूत्र यही है। यह कम गौरव की बात नही कि इसी थाँवले मे लगे वृक्ष का ही मागलिक फूल 'कामायनी' है।

५

करुणालय

'करुणालय' की रचना सम्भवतः १९१२ के अंतिम चरण मे हुई, और इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 'इन्दु' कला ४, खण्ड १, किरण २ (फरवरी १९१३) में हुआ। ५ वर्ष बाद 'चित्राधार' का प्रथम संस्करण निकला। उसमें यह रचना भी सम्मिलित थी। और आगे चलकर १९२८ में स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में इसका प्रकाशन हुआ।

'करुणालय' को विद्वानों ने प्रायः 'गीति-नाट्य' कहा है, पर यथार्थतः न तो इसमें गीतितत्त्व है और न पर्याप्त नाटकीय तत्त्व ही हैं, अतः इसे गीति-नाट्य नही कहा जा सकता। प्रसाद स्वयं इसे 'गीति-नाट्य' न कहकर 'गीति-नाट्य के ढंग पर लिखा हुआ' कहते हैं। कुछ लोगों ने इसे 'भाव-नाट्य' कहा हैं, पर यह संज्ञा भी इसे ढकती नहीं दिखाई पड़ती। यदि इस साहित्य-विधा के लिए कोई नाम देना ही हो तो 'कथोपकथनात्मक पद्य-कथा' या 'नाटकोन्मुख कथोपकथनात्मक पद्यबद्ध कहानी' कह सकते हैं।

'करुणालय' पाँच दृश्यों से युक्त एक एकांकी नाटक-सा है। प्रथम दृश्य सुन्दर प्रकृति-चित्रण से आरम्भ होता है। राजा हरिश्चन्द्र अपने सहचरों के साथ नौका पर जल-विहार कर रहे हैं। अचानक घोर गर्जन होता है। तूफान के लक्षण देखकर राजा माँझी को नाव तट पर ले चलने का आदेश देते है पर माँझी के लाख प्रयत्न करने पर भी नाव टस-से-मस नही होती। राजा को पहले कोई पुत्र नहीं था। वरुण ने इस शर्त पर उन्हें पुत्र दिया था कि वे पुत्र को वरुण के नाम पर बलिदान कर देंगे, पर पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् वे किसी-न-किसी बहाने से बलिदान टालते रहे। उसी कारण कुपित होकर वरुण ने उनकी नाव रोक दी थी।

इतने में, गर्जन के साथ ही आकाश वाणी सुनाई पड़ती है—

मिथ्याभाषी यह राजा पाखंड है,
इसने सुत बलि देना निश्चित था किया।
राजकुमार हुआ है अब बलियोग्य जब,
तो फिर क्यों उसकी बलि यह करता नहीं।

राजा सन्तान-ममता के नाम पर अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते है, और शीघ्र बलिदान देने की प्रतिज्ञा करते है। नौका चलने लगती है।

दूसरे दृश्य मे वन में उनका पुत्र रोहित घूमता दिखाया गया है। उससे राजा ने बलिदान की बात कही है, अतः वह अब सोचता है कि उनकी आज्ञा मानी भी जाय या नही। वह कहता है 'पिता परम गुरु है। उसका आज्ञा-पालन धर्म है, परन्तु मरने की निरर्थक आज्ञा भी क्या पालन करने योग्य है। वरुण, देव या दैत्य जो भी हो, किसी को मेरे प्राण पर क्या अधिकार? क्या वह सार्वजनिक सम्पत्ति है?' यह सोचकर वह दूर भागने की सोचता है। प्रकृति आकाश वाणी के रूप में उसका समर्थन करती है। तीसरे दृश्य में वह अयोध्या से दूर किसी जंगल मे है। वहाँ अकाल से पीड़ित अजीगर्त ऋषि अपने परिवार के साथ बड़े खिन्न दिखाई पड़ते है। रोहित से बातचीत होती है और वे अपने मँझले पुत्र शुनःशेप को सौ गायो के बदले बलिदान के लिए देने को तयार हो जाते है। चौथे दृश्य मे शुनःशेप के लिए रोहित अपने पिता के सामने आता है और अपने स्थान पर शुनःशेप का बलिदान करने की प्रार्थना करता है। वसिष्ठ के कहने पर राजा तैयार हो जाते है। अन्तिम दृश्य यज्ञ का है। शुनःशेप यज्ञ के खम्भे में बँधा है। वसिष्ठ का पुत्र शक्ति, बलिदान करने चलता है पर उसे करुणा आ जाती है और रुक जाता है। इतने में अजीगर्त वहाँ पहुँचते है—

और एक सौ गायें मुझको दीजिए।
मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।

कहकर स्वयं बलिदान करने को तैयार हो जाते है। उनको अस्त्र उठाकर आते देखकर शुनःशेप आकाश की ओर देखकर करुणासिन्धु भगवान् से प्रार्थना करता है—

त्राहि-त्राहि करुणालय! करुणा-सद्म में रखो. बचा लो।

और आकाश-गर्जन के साथ विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों के साथ आ पहुँचते है तथा वसिष्ठ को नर-बलि के लिए फटकराते है—

हाय! मचा रक्खा क्या यह अन्धेर है।

क्या इसमें है धर्म ? यही क्या ठीक है ?
किसी पुत्र को अपने क्या बलि दोगे कभी ?

बलिदान रुक जाता है। इसी बीच एक राजकीय दासी आती है और वह शुनःशेप को अपना पुत्र बतलाते हुए न्याय की माँग करती है। यह रहस्य खुलता है कि शुनःशेप उस दासी का पुत्र है जो कभी विश्वामित्र की गन्धर्व-विवाहिता थी। अन्त में बिना नर-बलि के ही वरुण प्रसन्न हो जाते हैं और 'जय-जय विश्व के आधार' रूप मे भारतवाक्य के साथ रचना समाप्त हो जाती है।

कथानक का आधार वैदिक आख्यायिका है पर साथ ही कल्पना का मिश्रण भी है। कथोपकथन में पर्याप्त सजीवता है। प्रसाद के नाटकों में पात्राधिक्य प्रायः खटकता है। उसका प्रारम्भ यही हो जाता है। इस अत्यन्त छोटी-सी रचना में भी ११ पात्र है। ९ पुरुष, २ स्त्रियाँ।

भाषा खड़ी बोली है। उसमे पर्याप्त प्रौढ़ता है। कवि की अभिव्यञ्जना कही-कहीं तो दर्शनीय है। इसका छन्द २१ मात्रा का अतुकान्त अरिल्ल है। पर इसकी एक और विशेषता यह भी है कि चरणान्त में आवश्यक रूप से विराम नहीं है। विराम-चिह्नों का प्रयोग पंक्तियों के बीच में भी हुआ है। इस प्रकार चरण अचल न होकर चल हैं और एक चरण का पूरा भाव दूसरे पर आश्रित है—

हे नरेन्द्र है पिता पुत्र यह आपका।
रोहित सेवा में आ गया। विनम्र हो।
करता अभिवादन है। अब कर दीजिये।
क्षमा इसे। हूँ पशु लेकर आया यहाँ।

इस रूप मे प्रसाद का यह नया प्रयोग है। यह प्रयोग जैसा कि 'इन्दु' में छपा था कवि ने अंग्रेजी के ब्लैकवर्स तथा बंगला के अमित्राक्षर छन्द को देखकर किया था। वस्तुतः प्रस्तुत रचना में कवि का उद्देश्य यह छन्द-प्रयोग ही है। 'इन्दु' में छपी इस सूचना—

"हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभदायक होगा इसी विचार के लिए यह काव्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।"

से भी इसी बात का संकेत मिलता है।

इस नूतन छन्द-प्रयोग के अतिरिक्त भी 'करुणालय' का महत्त्व कई दृष्टि से है। इसके द्वारा कवि ने भारतीय समाज के आरम्भिक युग की एक झाँकी दी है। जब पशु तथा प्रकृति-प्रदत्त फल-मूल ही प्रमुख खाद्य थे। पेट की ज्वाला के निमित्त पुत्र को बलिदान के लिए बेचा जाना ही नहीं अपितु स्वयं

बलिदान करना भी सम्भव था। नरमेध यज्ञ प्रचलित थे और लोग देवों की तथाकथित प्रसन्नता के लिए अपनी सन्तान की भी भेंट देते थे। पर धीरे-धीरे सभ्यता की नई किरण भी आ रही थी और नर-बलि को बुरा कहकर उसका विरोध करने वाले भी पनपने लगे थे। रोहित का यह सोचना कि मेरे प्राण पर किसी देवता का क्या अधिकार उस काल में इक्की-दुक्की दिखाई पडने वाली वह चिनगारी है जिसने सुलगते-सुलगते विकराल रूप धारण करके सभ्य जगत् से इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों को प्रायः पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया है।

गन्धर्व-विवाह-जैसी प्रथाएँ ऋषि-मुनियों तक मे प्रचलित थी। करुणा पर बल होने के कारण ही पुस्तक का नाम है 'करुणालय'। इसमे कवि यह सकेत करता है, कि करुणा विश्व की अनेकानेक रुग्णताओं के लिए रामबाण औषधि है। उसे अपना लेने पर बहुत-सी विषमताएँ और मानव विकृतियाँ अपने-आप दूर हो जावेंगी। करुणा की भावना प्रसाद को बौद्ध-ग्रन्थों से मिली थी। इसे एकान्त महत्त्व देने का प्रथम श्रेय बुद्ध को ही है। साथ ही कवि इसके द्वारा दया, समता, क्षमा, प्रेम, उचित के लिए पिता या बड़े की भी आज्ञा न मानना, कर्म-पथ पर निडर होकर बढते जाना।

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत कर्म मार्ग विस्तीर्ण है।
चलने वाला पीछे को ही छोड़ता।
सारी बाधा और आपदावृन्द को।

× × × ×

सारे श्रम उसको फूलों के हार से।
लगते है, जो पाता ईप्सित वस्तु को।

× × × ×

बैठोगे तो कहीं एक पग भी नहीं।
स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार में।

हिंसा-जैसे आसुरी कर्मो एवं धार्मिक अन्ध-विश्वासो का विरोध

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया।
रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया।
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे।
कैसे आसुरी माया मे हिंसा जगी।

× × × ×

ग्रोर धर्म की छाप लगाकर मूढ़ तू।
फँसा ग्रासुरी माया में हिंसा जगी।

ग्रादि बहुत-सी नैतिक बातों का परोक्ष या ग्रपरोक्ष रूप से संदेश दिया है। इसमें कहीं-कहीं द्विवेदीयुगीन उपदेशात्मकता की भी गन्ध है। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि बुद्धि-हृदय के समन्वय की बात छोड़कर ग्रौर जितने भी संदेश प्रौढ़ प्रसाद ने हमें दिए हैं। प्रायः सभी के बीज यहाँ हैं। न्यूनाधिक रूप में ये ही बातें 'ग्राँसू', 'कामना' ग्रौर 'लहर' ग्रादि में विकसित होकर 'कामायनी' में पहुँची हैं। कुछ लोगों के ग्रनुसार छायावादी प्रसाद के प्रथम स्पष्ट चिह्न यहीं दिखाई पड़ते हैं, पर यथार्थतः यह कहना भ्रामक है। जैसा कि पहले की पुस्तकों पर विचार करते समय संकेत किया जा चुका है, इस बात के स्पष्ट चिह्न 'चित्राधार' तथा 'कानन कुसुम' में भी हैं।

पृष्ठभूमि रूप में किये गए प्रकृति-चित्रण में चित्रात्मकता का तो ग्रभाव है पर भावात्मकता पर्याप्त है। उस पर मानवीय भावों का ग्रारोपण कहीं-कहीं है।

'करुणालय' की कुछ बातें ग्रसंगत भी लगती हैं। क्या रोहिताश्व के पिता सत्यवादी हरिश्चन्द्र का, जो स्वप्न में दान दी गई वस्तु तक को नहीं ग्रपनाते, यही चरित्र है? रोहिताश्व जिसने ग्रपने वेचे जाने तक का प्रतिवाद नहीं किया था, यहाँ उचित रूप में चित्रित है? पर इन ग्रसंगतियों को न उठने देने के लिए कहा जा सकता है कि हरिश्चन्द्र की यह कथा भी तो प्राचीन ग्रन्थों में ग्राई है ग्रौर कवि ने उसीको ग्रपनाया है। दूसरी कथा को दृष्टि में रखना ग्रनिवार्य नहीं है।

खर यह दोष न भी लगे तो इतना तो कहा ही जा सकता है कि कहानी को कवि ने ग्राज के बुद्धिवादी युग के ग्रनुरूप रूप नहीं प्रदान किया है। 'हरिग्रौध' ग्रादि बहुत-से ग्राधुनिक कवियों ने पौराणिक कथाग्रों को चित्रित करते समय इस बात का ध्यान रखा है कि ग्रतिमानवीय घटनाएँ न ग्रावें। यहाँ प्रसाद भी सरलतापूर्वक यह कर सकते थे पर उन्होंने यह किया नहीं। नाव का रुक जाना ग्रौर फिर बलिदान करने का निश्चय करने पर चल पड़ना तथा बार-बार ग्राकाश वाणी होना ऐसी चीजें हैं जो ग्राज के पाठक के गले नहीं उतरतीं।

६

महाराणा का महत्त्व

इसकी रचना १९१४ के पूर्वार्द्ध में हुई और यह सर्वप्रथम 'इन्दु', कला ५, खण्ड १, किरण ६ (जून १९१४) में प्रकाशित हुआ। 'करुणालय' की भाँति यह भी 'चित्राधार' (१९१८ ई० के) प्रथम संस्करण में सम्मिलित था, पर फिर आगे चलकर १९२८ में इसका प्रकाशन स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में हुआ।

यह रचना खण्डकाव्य है, पर नाट्य-कला का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। किसी एकांकी नाटक की भाँति यह एक अंक का है, जिसमें ५ दृश्य हैं। लेखक ने इन पाँचों दृश्यों को स्वयं (× × इन चिह्नों से) अलग-अलग कर दिया है। अब तक की इस प्रकार की रचनाओं में प्रसाद किसी-न-किसी प्रकार की भूमिका देते रहे हैं, पर इसमें वह भी नहीं है। बातचीत से इसका आरम्भ हो जाता है। यह भी कदाचित् नट्य-कला का प्रभाव है, जहाँ पर्दा उठते ही पात्र बात करते पाए जाते हैं।

प्रथम दृश्य राजस्थान के एक मरुस्थल का है, जहाँ से होकर अब्दुर्रहीम-खानखाना का 'हरम' कहीं जा रहा है। प्यासी बेगम दासी से पूछती है कि दुर्ग अभी कितनी दूर है। दासी सैनिकों से पूछती है। वह बेगम के प्यासी होने की भी बात कहती है। सैनिक कुछ दूर पर एक स्थान की ओर संकेत करते हैं, कि वही रुका जायगा। वहाँ पानी भी मिलेगा। वे यह भी कहते हैं कि यह स्थान राणा प्रताप की विचरण-भूमि है, अतः रुकना भयावह है।

दूसरा दृश्य उस पानी वाले स्थान का है, जहाँ बेगम को पानी पिलाने के लिए सेना रुकती है। इसी बीच वहाँ राजपूतों की एक सेना, जिसके प्रमुख अमरसिंह हैं, आ पहुँचती है और युद्ध में मुगल-सेना को पराजित करके वे लोग बेगम तथा कुछ अन्य लोगों को बन्दी बनाकर ले जाते हैं।

तीसरा दृश्य अरावली की तलहटी के उस स्थान का है जहाँ राणा प्रताप

है। वे जब बेगम के बन्दी बनाए जाने का समाचार सुनते हैं तो बहुत रुष्ट होते हैं और बोल उठते हैं—

············किया किसने उसे
बन्दी ? स्त्री को क्षत्रिय देते दुःख नहीं।

समाचार देने वाला कहता है कि शत्रु की स्त्री है, अतएव उसे बन्दिनी बनाना तो ठीक ही है। यह सुन

कहा तमक कर तब प्रताप ने—'क्या कहा
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है।
इस अबल के बल से होंगे सबल क्या ?
× × ×
परम सत्य को छोड़ न हटते वीर हैं।
× × ×
× × क्या अब होगा यही
क्षुद्र कर्म इस धर्मभूमि मेवाड़ में।
× × ×
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिए, बिना एक भी दुख दिए।
सैनिक लोगों से मेरा सन्देश यह
कहिए कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दे, चाहे हों शत्रु की।
शत्रु हमारे यवन उन्हीं से युद्ध है
यवनी गण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं
मृगया, डर से दबी शृगाली-वृन्द की।

चौथा दृश्य चित्तौड़ में खानखाना के हरम का है। उनकी बेगम लौट चुकी हैं। वे विनोद-मिश्रित व्यंग्य में कहते हैं—

प्रिये तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केसरी,
दाँत लगा न सका, देखा-गांधार का
सुन्दर दाख······················ ।

इस पर बेगम उन्हें लज्जित करती है कि 'चुप भी रहिए। आपको तो उस महान् व्यक्ति द्वारा किये गए उपकार का प्रतिकार करना चाहिए, जिसने आपकी स्त्री

को कैद कर लेने पर भी, ससम्मान लौटा दिया।' बात मार्मिक है। खानखाना के हृदय में चुभती है और वे प्रताप की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं—

जन्मभूमि के लिए प्रजा-सुख के लिए,
इतना आत्मोत्सर्ग भला किसने किया।

और अन्त में इतने महान् व्यक्ति से व्यर्थ में शत्रुता करने के मानसिक दुःख से दुखी अपनी पत्नी की राय से वे कुछ दिन की छुट्टी लेने के लिए अकबर के यहाँ जाते है।

अन्तिम दृश्य अकबर दरबार का है। खानखाना पहुँचते हैं और धीरे-धीरे बात-बात में सारी मानसिक व्यथा उनके सामने स्पष्ट कर देते है। अकबर भी प्रभावित हुए बिना नही रहता और कहता है—

बात यह ठीक है,
अब न लड़ाई राणा से उपयुक्त है।

प्रवाद-रूप में प्रसिद्ध यह घटना इतिहास-समर्थित भी है। कवि ने कथानक को अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाने के लिए कुछ कल्पना का भी सहारा लिया है।

इसमें प्रबन्ध-योजना द्वारा छायावादी नवोन्मेष की ही व्यञ्जना की गई है, विशेषता केवल यह है कि अतीत के गौरव-गान द्वारा भारतीय तरुणों में देश-प्रेम और नवोत्थान की भावना भरने की भी योजना है। पराधीन देश के रोमाण्टिक पुनर्जागरण का यह राष्ट्रीयता-समन्वित रूप अवश्य ही द्रष्टव्य है। लेकिन इस काव्य की स्वतः स्फूर्त मुक्त प्राणचेतना को देखते हुए भी द्विवेदी-कालीन पुनरुत्थानवादी और आदर्शवादी कथामूलक काव्य-रचनाओं के साथ इसे समीकृत नहीं किया जा सकता।

इस रचना में अत्यन्त संक्षेप मे प्रताप के चरित्र को भी कवि ने अच्छी तरह उभारा है। प्रताप यथार्थतः वीर है। इतने उज्ज्वल कि प्रसाद की लेखनी 'मुख में मसि लेकर' उस उज्ज्वल नाम को लिखने मे भी हिचकती है। शत्रु भी उनकी प्रशंसा करते हैं। रहीम, जो उन्ही से लडने को भेजे गए थे, अपनी स्त्री से तथा अकबर से उनकी गुण-गाथा गाते नही अघाते।

इस रचना में सभी दृष्टियो से प्रसाद बहुत प्रौढ़ दीखते हैं। भाषा प्रायः पर्याप्त परिष्कृत, प्रांजल तथा सशक्त है। शैली भी बड़ी मार्मिक तथा सजीव है। नाटकीयता के कारण उसकी सजीवता और सहजातता और भी बढ़ गई है। प्रसाद प्रकृति या मनुष्य या अन्य वस्तुओं के चित्र को शब्दों द्वारा मूर्त्त रूप देने में प्रारम्भ से ही पटु हैं। यहाँ भी उसके उदाहरण हैं। चाँदनी का चित्र है—

तारा हीरक हार पहिन कर चहुँ मुख
विखलाती, उतरी आती थी चाँदनी
(शाही महलों के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।

खानखाना की बेगम प्रेम-भरे रोष से कुछ कहती है और प्रसाद की कल्पना उसे शब्दों में बाँध लेती है—

कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में,
'खिसक गई डर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध-सी लगी विमल आलोक को
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी,
आभूषण भी झन-झन कर बस रह गए।

अप्रस्तुत के नवल चुनावों से प्रसाद की शैली तथा अलंकार-योजना में एक टटकापन आ जाता है। यहाँ भी उस प्रकार के प्रयोग हैं—

(क) लू समान कुछ राजपूत भी आ गए।
लगे झुलसने यवनों को निज तेज से
(ख) आर्य जाति के इतिहासों के लेख-सी,
जल-स्रोत-सी बनी चित्र रेखावली।
(ग) जैसी हरियाली थी वैसी ही वहाँ—
सूखे काँटे पत्ते बिखरे ढेर-से
बड़े मनुष्यों के पैरों से दीन-सम
जो कुचले जाते थे हय-पद-वज्र से।

इस अन्तिम अप्रस्तुत मे कवि का अप्रस्तुतत्व कितना मार्मिक, सामयिक और व्यंग-पूरित है, कहने की आवश्यकता नहीं।

प्रकृति-चित्रण के साथ नीति-कथन की जो पद्धति 'भागवत' तथा 'रामचरित मानस' में है, उसका भी दर्शन प्रसाद में होता है। पीछे 'कानन-कुसुम' में हम देख चुके हैं। यहाँ भी इस प्रकार के दो-एक स्थल है—

नव वसन्त का आगम था बतला रहा,
उनका ऐसा रूप जगत-गति है यही।

'महाराणा का महत्त्व' का छन्द 'करुणालय' की भाँति ही अतुकान्त अरिल्ल है।

७

झरना

'झरना' के पूर्व की रचनाएँ—'चित्रधार', 'कानन कुसुम', 'प्रेम पथिक', 'करुणालय' और 'महाराणा का महत्त्व'—कवि की एक प्रकार से प्रारम्भिक रचनाएँ थीं। उसके प्रौढ़तर प्रयोग का आरम्भ 'झरना' से होता है। यह कृति प्रारम्भिक और प्रौढ़तर प्रयोगों के सन्धि-स्थल पर है। साथ ही ४-६ वर्ष आगे-पीछे की रचनाएँ भी इसमें संकलित है। इसी कारण इसकी कविताओं के विरुद्ध आलोचकों की एकरूपता को लेकर शिकायत रही है। इसकी कुछ रचनाएँ बहुत प्रौढ़ है और कुछ अप्रौढ या कभी-कभी तो प्रायः तुकबन्दी-सी। एकरूपता के अभाव का दूसरा कारण यह है कि इसमें कवि अनेक प्रकार के छन्द तथा काव्य-सम्बन्धी प्रयोग भी कर रहा है। प्रयोगों में जहाँ वह सफल है, रचना उच्चकोटि की है; और जहाँ असफल है रचना निम्न स्तर की हो गई है। एक बात और। जैसा कि किसी आलोचक ने संकेत किया है, 'झरना' की अधिकांश रचनाएँ जिस काल में लिखी गई वह कवि का जवानी का आलम था। भावों के उद्दाम झरने उसके आकुल अन्तर में आते थे और तरलित होकर कविता के रूप में फूट पड़ते थे। इस प्रकार के ज्वार के समय की लिखी गई भावोद्रेकपूर्ण कविताएँ प्राणवान और सशक्त हैं। कहीं-कही उनका कला पक्ष कमजोर है, पर भाव पक्ष के प्रति किसी भी प्रकार की शिकायत नहीं की जा सकती। पर दूसरी ओर कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं, जो लगता है कि ज्वार उतर जाने के बाद लिखी गई हैं। कवि में यदि पर्याप्त प्रौढ़ता होती तो कल्पना और प्रतिभा के बल पर ज्वार उतरने पर भी वह सशक्त चीजें दे पाता, पर उनके अभाव में वह वैसा नहीं कर सका है। एकरूपता या एक-स्तरता की इस अव्यवस्था के बावजूद भी 'झरना' की सब तो नहीं, पर अधिकांश कविताओं में पहले की कृतियों की तुलना में कवि का मानसिक

विकास स्पष्टतः लक्षित है। हाँ कला की दृष्टि से यह विकास दो ही चार कविताओं में है। कुछ मे तो कला की दृष्टि से ह्रास भी है (वेदने ठहरो!…)। लगता है कि कवि इन दोनों क्षेत्रों में अपने विकास में संतुलन नही स्थापित कर सका है।

'झरना' का प्रथम संस्करण १९१८ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसमें केवल २५ कविताएँ थी। बाद के संस्करणों में कुछ रचनाएँ निकाल दी गई और कुछ नई जोड़ दी गई। आजकल 'झरना' का जो रूप उपलब्ध है उसमें आरम्भ के 'परिचय' को लेकर कुल ५४ कविताएँ हैं। आलोचकों ने 'झरना' की रचनाओं को १९१४ से १९१७ के बीच की माना है,[1] पर यथार्थतः आज के उपलब्ध संस्करण की कविताओं का रचना-काल १९१३ से लेकर १९२७ तक, अर्थात् १४ वर्षों में फैला हुआ है। इतनी लम्बी अवधि में लिखी गई होने के कारण भी कविताओं में एकरूपता का अभाव है, जो अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

यों तो 'झरना' के पूर्व की रचनाओं में भी छायावाद और रहस्यवाद के स्वर मिल जाते है, पर 'झरना' में आकर ही उनका सर्वप्रथम स्पष्ट और स्फुट रूप दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व कवि का ध्यान आख्यानक कविताओं तथा बाह्य पर था। यत्र-तत्र उसने अपनी अन्तर् की निधि को उद्घारित करने का प्रयास किया भी तो बहुत कम। अब वह प्रमुख रूप से अन्तर्मुखी हो गया है। इस कारण भी छायावाद-रहस्यवाद के लिए अवकाश अधिक है। 'झरना' कुछ प्रकृति की कविताओं को छोड़कर आद्यन्त कवि की आत्मानुभूति है। उसका आत्म-प्रकाशन है। बिभिन्न परिस्थितियों में निकले उद्गारों और मनोदशाओं के चित्रों का—अल्हड़ चित्रों का संग्रह है। उसीकी आप-बीती है। आशा-निराशा, विरह-मिलन, हर्ष-विषाद, निश्चय-अनिश्चय, और उत्थान-पतन की कहानी, जो प्रायः हर अल्हड़ युवक की होती है। कवि बाह्य को देखते-देखते जैसे ऊब चुका है, इसीलिए प्रकृति-चित्रण में भी अब वह अन्तस्तल की झाँकी चाहता है। 'झरना' में उस झरना के अतिरिक्त 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' रूप में भीतर भी देख रहा है। आगे हम देखेंगे कि अन्य प्रकृति-रूपों में भी ऊपरी चित्र छोड़कर वह उनके हृदय के भावों को टटोलता है। पर यहीं एक बात और है। भावना की गहराई में वह डूबना

---

[1] 'झरना' की अधिकांश रचनाएँ अवश्य इस काल की है, पर 'विषाद', 'बालू की बेला', 'किरण' तथा 'बिखरा प्रेम'-जैसी प्रौढ़ कविताएँ, जो 'झरना' की आत्मा हैं, १९२० के बाद की लिखी हैं।

तो चाहता है, पर अभी अनभ्यस्त है। गहराई में देर तक रुकता नहीं। नया गोताखोर दो-एक मोती लेकर ही बाहर आ जाता है। इसका अभ्यस्त रूप आगे 'आँसू' और 'लहर' में मिलेगा। 'झरना' के भावों में झरने की-सी उच्छृङ्खलता तथा अगाम्भीर्य का कारण यही है।

कवियों का अन्तर्मुख होना छायावादी-रहस्यवादी युग की प्रमुख विशेषता रही है। इसके श्लाघ्य और अश्लाघ्य दोनों ही पक्ष हैं। श्लाघ्य पक्ष तो यह है कि इसी प्रवृत्ति के कारण कई सौ वर्षों से बाह्य की कारा में बन्द अन्तर् गीति-काव्य के रूप में अभिव्यक्ति पा सका और जिसके कारण भक्ति-काल की भाँति कुछ दर्शकों के लिए हिन्दी-कविता का युग आ गया। चिर नवल-नूतन आत्मानुभूतियो के अपने टटकेपन से हिन्दी-कविता का अक्षय शृङ्गार किया। पर, प्रकाश के साथ छाया भी तो रहेगी। इसके साथ अश्लाघ्य पक्ष भी था। कवि व्यक्तिवादी-से बन गए। हँसने-रोने की कहानी ही उनके काव्य के लिए रीढ़ की हड्डी बन गई। युग उनमें यदि कहीं अभिव्यक्ति पा भी सका तो परोक्ष रूप में। प्रसाद भी इस गुण-दोष से अछूते नहीं हैं। उनके गीति-काव्य-काल—झरना, आँसू, लहर—की कहानी इससे भिन्न नहीं है। हाँ एक बात अवश्य है कि महादेवी की भाँति उन्होंने भी अपने व्यक्ति को प्रायः व्यापक बनाने का प्रयास किया है।

लगता है कि कवि ने संग्रह का नाम बहुत समझ-बूझकर रखा है। इसमें उसकी जवानी अपनी सारी उद्दामताओं के साथ बिखर उठी है। लगता है उसके भाव उसके मन की भाँति ही विकल हैं, बरबस निकलना चाहते है, कला मिले तो क्या, न मिले तो क्या। वे रुक नहीं सकते। उनमें आवेग है, बेसुधी है, उच्छृङ्खलता है, अशान्ति है, तीव्रता है; और है अल्हड़पन। वे सचमुच झरना हैं, नदी नहीं। नदी की लहर तो आगे मिलेगी। यहाँ प्रवाह और उछल-कूद में लहर का कहाँ पता ?

प्रसाद प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। 'झरना' का प्रमुख स्वर भी इससे भिन्न नहीं है। इसकी अधिकांश कविताएँ इसी प्रकार की हैं—प्रेम, रूप, समर्पण, प्रतीक्षा, अनुनय, विरह-वेदना तथा मिलन आदि से सम्बद्ध। कुछ कविताओं में मन की चंचलता और अशान्ति के भी चित्र है, जो उनकी तत्कालीन उम्र का तकाजा हैं। शेष बहुत थोड़ी कविताएँ प्रकृति-विषयक है।

'झरना' में प्रेम-विषयक अभिव्यक्तियों का प्राधान्य है। जैसे कवि प्रेम के जहाज का पंछी है। उड़-घूमकर बार-बार वही शरण लेता है। स्वयं 'झरना' को भी यदि 'प्रेम की धारा का' प्रतीक कहा जाय तो अत्युक्ति न

होगी। कवि स्वयं कहता है कि '**तुम्हारे अपांग की धारा एक दिन तन-मन प्लावित कर गई और हृदय से झरना बह चला, प्रणयवात्या ने पसारा किया।**' प्रेम के सम्बन्ध में कवि अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ से ही लिखता आ रहा है। प्रेम से सम्बद्ध पूर्ववर्ती सारी अभिव्यक्तियों में प्रेम का उदात्ततम रूप 'प्रेम पथिक' मे मिलता है। पर वह रूप आदर्शवादी है। 'झरना' में व्यक्त प्रेम उसकी तुलना में अधिक मांसल तथा स्वानुभूत है। कुछ आलोचकों ने 'प्रेम पथिक' के सात्विक प्रेम को 'झरना' में विकसित रूप में देखा है, पर मैं इससे सहमत नहीं हूँ। वहाँ प्रेम के सामान्य आदर्श का चित्रण था, यहाँ उसके अनुभूत रूप का; जो वासना से सर्वत्र शून्य नहीं कहा जा सकता, यथातथ्य अंकन है।

कवि ने प्रेम किया। मीरा के 'प्रेम किये दुख होय' का ढिढोरा अनसुना[1] करके, किन्तु प्रेम करने के बाद उसे भी यही पता चला कि प्रेम सुखकर नहीं है, या कम-से-कम दूर का प्रेम सुखकर नहीं है।[2] प्रेम की इसी दुःखदता के कारण 'अतिथि' शीर्षक कविता के अन्त में वह प्रेम को 'नाहर' कहता है। सम्भवतः उसके प्रेम का उचित उत्तर उसे नहीं मिला। पर कवि उसे नाहर समझते हुए भी उसके महत्त्व से अनजान नही है। 'प्रथम प्रभात' कविता में प्रेम के आगमन के बाद ही कवि अपने जीवन का यथार्थ प्रभात मानता है। कबीर ने भी कहा है कि जिस हृदय में प्रेम नहीं वह श्मशान है। 'परिचय' कविता में भी '**प्रेम का मेरा तेरा छन्द**' में तथा उसके पूर्व भी प्रेम की महत्त्वपूर्ण शक्ति पर ही बल दे रहा है।

'झरना' का प्रेम मूलतः लौकिक है। उसका आलम्बन किसी अलौकिक को कदापि नहीं माना जा सकता। हाँ, साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि तत्कालीन रहस्यवादी प्रवृत्ति, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के प्रभाव या कवि में स्वीकारोक्ति के लिए अपेक्षित शक्ति की कमी आदि के कारण बादल के किनारों पर दिखाई पड़ने वाली सुनहली आभा-रेखा की भाँति, इसकी प्रेम-कविताओं में भी अलौकिक की एक आभा-रेखा है। पर वह आभा-रेखा ही है। बादल की अपनी चीज नहीं। हाँ प्रेम के उदात्तीकरण के कारण कहीं-कहीं लौकिक आलम्बन पर आलम्बित होते हुए भी प्रेम अलौकिक रूप धारण कर गया है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उसे लौकिकता की नींव पर आधारित होते हुए भी अलौकिक की सीमा को स्पर्श

---

[1] **किसी पर मरना यही तो दुख है—'उपेक्षा करना'।**

[2] **रे मन कर न दूर का प्रेम—'बिंदु'।**

करने वाला मान सकते हैं। कवि की भावना और कल्पना लौकिक प्रिय को अलौकिक बना डालती है। सूफ़ियों ने भी इश्क-मजाज़ी को इसी प्रकार इश्क-हकीकी में परिणत कर दिया है।

प्रेम और सौन्दर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेम ही वह पारस है जो असुन्दर लोहे को भी सुन्दर कंचन बना देता है। कहा जाता है कि लैला काली-कलूटी थी, पर प्रेम के कारण ही मजनू के लिए वह अप्रतिम सुन्दरी थी। प्रसाद भी प्रेम के साथ सौन्दर्य को नहीं भूल सके है, यद्यपि, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, यहाँ उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी है, अतएव सौन्दर्य के चित्र अधिक नही खींच सके हैं। केवल एक ही कविता सौन्दर्य-विषयक है, जिसका शीर्षक 'रूप' है। इसमें शीश-मात्र का वर्णन है। यह वर्णन भी कदाचित् चित्रात्मक से अधिक भावात्मक है।

कवि अपने प्रिय पर मुग्ध है। इतना मुग्ध कि उस पर अपने को लुटा देना चाहता है। कई कविताओं में उसकी यह आत्म-समर्पण की भावना बड़े ही प्रबल रूप में व्यक्त हुई है। प्रारम्भ में ही कवि कहता है—

हृदय हो तुम्हें दान कर दिया
× × ×
हमारा कहो न अब क्या रहा ?
तुम्हारा सब कब का हो रहा।

अन्यत्र भी वह कहता है—

हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे।

प्रेम के संसार में मिलनार्थ प्रतीक्षा की घड़ियाँ बड़ी मूल्यवान समझी जाती हैं। 'झरना' में 'प्रत्याशा' में ये भाव भी अनुनय के भावों के साथ बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किये गए हैं। अनुनय के भाव 'खोलो द्वार', 'बालू की बेला', 'वसन्त की प्रतीक्षा', 'प्रियतम', 'निवेदन', 'सुधा-सिंचन', 'प्रार्थना' आदि अन्य कविताओं में भी हैं। 'अनुनय' शीर्षक कविता में कवि रीतिकालीन शैली में कहता है—

हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा,
अहो प्राणप्यारे, तो कठोरता न कीजिए।
क्रोध से, विषाद से, दया पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए॥

'खोलो द्वार' में वह दर्शनार्थ अनुनय करता है—

सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम, खोलो द्वार !

अन्त में कवि जब देखता है कि मिलना होने का नहीं, तो 'प्रियतम' कविता में वह कहता है—

स्मृति को लिये हुए अन्तर में जीवन कर देंगे निःशेष।
छोड़ो, अब दिखलाओ मत, मिल जाने का यह लोभ विशेष ।।

प्रेम की प्रमुख स्थितियाँ दो ही हैं—विरह और मिलन। मिलन सुख है और उसकी प्राप्ति कम होती है। विरह-जैसा वह मार्मिक भी नहीं। इसीलिए साहित्य में विरह के ही चित्र अधिक मिलते हैं। 'झरना' में भी विरह के भाव प्रायः अधिक है। अनुनय-विषयक प्रायः सभी कविताएँ प्रत्यक्षतः या परोक्षतः विरह की आर्द्रता से ही सिक्त है। विरह न हो तो वह अनुनय ही क्यों करे ?

विरह आरम्भ में कष्टकर रहता है, पर फिर उसीमें कवि आनन्दित होने लगता है। आग का कीड़ा आग में ही शैत्य का अनुभव करता है। कबीर तथा जायसी आदि ने भी विरह की पीड़ा को प्रिय कहा है। यही दशा प्रसाद की भी होती है। विरह या प्रियतम द्वारा प्रदर्शित उपेक्षाजनित पीड़ा, वेदना, विषाद, जलन या दुःख से उन्हें प्रेम हो जाता है। महादेवी आदि अन्य छायावादी कवि भी पीड़ा से प्रेम करने वाले है। प्रसाद ने पीड़ा या विषाद से प्रेम कई कविताओं में व्यक्त किया है। 'विषाद' कविता में 'विषाद' के विषय में वे कहते है—

किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है।।

एक जगह वे कहते है—

जलन छाती में बड़ी सहता हूँ।
मिलो मत मुझसे यही हूँ।—बड़ी हो दया तुम्हारी ।।
तुम रहो शीतल हमें जलने दो।
तमाशा देखो हाथ मलने दो।—तुम्हें है शपथ हमारी ।।

इस प्रकार के भाव फारसी और उर्दू-कविता में भी मिलते हैं। प्रसाद के 'कानन कुसुम' में भी इस प्रकार के प्रारम्भिक भाव है, पर यहाँ उसका विकसित रूप है। वस्तुतः प्रेम की इस प्रकार की अवस्था मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकास की अवस्था है।

प्रसाद अपनी करुणा या पीड़ा को भी धीरे-धीरे व्यापक बताते हैं और ससे विश्व-मंगल की कामना करते है। 'आँसू' में इसकी अभिव्यक्ति हुई है।

मिलन का वर्णन 'झरना' में अधिक नहीं है। 'मिलन' शीर्षक कविता में उसने 'मिलन' की अलौकिकता की पालिश करते हुए भावपूर्ण संकेत किया है—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से।
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा॥

यह कहा जा चुका है कि रहस्यवाद का स्पष्ट स्वर सर्वप्रथम 'झरना' मे है, यद्यपि अस्पष्ट स्वर इसके पूर्व भी मिलते हैं। उनकी पहली रहस्यवादी कविता 'प्रथम प्रभात' कही जाती है, जो 'झरना' की तीसरी कविता है। पहले प्रेम पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि उनके कवि का आधार लौकिक है, पर कवि ने भावात्मक साधना (कवि का भक्त तो वह था ही) द्वारा अपने प्रेम, उसके आलम्बन, वेदना, सफलता-असफलता आदि सभी को अलौकिक बना दिया है। इसे 'बनाने' मे या हो जाने के पीछे तत्कालीन प्रवृत्ति, दर्शन कबीर, मीराँ आदि का अध्ययन, 'प्रसाद' का रहस्यमय विराट् के प्रति अपनी रुझान, और इसी कारण अपनी भावनाओं का उदात्तीकरण आदि कई कारण माने जा सकते है। यह लक्ष्य करने की बात है कि 'प्रसाद' या अन्य आधुनिक कवि 'रहस्यवादी' नही थे, वे केवल 'रहस्यवादी कवि' थे। उन्होंने भावात्मक ढंग से अपनी लौकिकता को अलौकिकता की सीमा तक ले जाकर कुछ आत्मानुभूति की प्रगति की ओर उन्हींको जिन कविताओं में व्यक्त किया वे 'रहस्यवादी' कही गईं। इस प्रकार वे कविताएँ प्रायः लौकिकता-अलौकिकता के बीच में हैं। 'निराला' की 'तुम और मैं'-जैसी शुद्ध दार्शनिक कविताओं की बात यहाँ नहीं कही जा रही है। 'झरना' की भी 'तुम' कविता इसी प्रकार की है। पर'प्रसाद' की ऐसी बहुत-सी कविताएँ है जो है लौकिक पर-बीच-बीच में या अन्त में कुछ शब्दों को जोड़कर उन्हें अलौकिकता की ओर भी अभिमुख कर दिया गया है। आगे 'आँसू' पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि उसका पहला संस्करण लौकिक धरातल पर था या दूसरे में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन द्वारा कवि ने उसे अलौकिक धरातल का भी संस्पर्श करा दिया। स्पष्ट है कि युग के भय से, अपने में स्वीकारोक्ति के बल के अभाव से या अन्य आन्तरिक या बाह्य प्रभावों से कवि ने बाद में ऐसे परिवर्तन किए। ध्यातव्य है कि परिवर्तन हो नहीं गए। सप्रयास किये गए। ऐसी स्थिति में शुक्लजी-जैसे आलोचकों से सहमत होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि इनका यह 'रहस्यवाद' बहुत स्वाभाविक नहीं है।

पीछे की रचनाओं में किसी अदृश्य के लिए कुतूहल या जिज्ञासा के

भाव हम देख चुके है। यहाँ भी कुछ कविताओं मे ये भाव है। कही तो ये भाव है, और कही शैली मात्र।

यहाँ भी उसमें जिज्ञासा है और वह विराट् को खो जाता है—

सुमन-समूहों में सुहास करता है कौन, मुकुलों में कौन मकरंद-सा अनूप है?

या

कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा वृक्ष-पत्र की मधु छाया में?
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत-सदृश नश्वर काया में?

इसी प्रकार 'बालू की बेला' तथा 'कब'-जैसी कविताओं में मिलन-काल को लेकर उसके उसकी जिज्ञासा सामने आती है। फिर उसे प्रेम की प्राप्ति होती है और उस समय को अपने जीवन का पहला प्रभात मानकर कवि 'प्रथम प्रभात' में अपना भावनाएँ व्यक्त करता है। प्रेम-प्राप्ति के बाद मिलने की प्रतीक्षा ('प्रत्याशा' कविता मे), फिर मिलने या दर्शन देने के लिए अनुनय-विनय ('अनुनय', 'प्रार्थना' आदि कविताओं में), 'फिर यों नही हो स्वप्नलोक में दर्शन'[1] ('स्वप्नलोक' कविता में), फिर साक्षात् दर्शन ('दर्शन' कविता में) और अन्त में मिलन—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से।
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा॥

ये उस पथ की विभिन्न स्थितियाँ मानी जा सकती हैं। यद्यपि मूलाधार की दृष्टि से इनकी लौकिकता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती।

यहाँ एक बात और भी संकेत करने योग्य है। प्रसाद जी शैव-भक्त थे, अतएव उनकी कुछ कविताकों में रहस्य की भक्ति के पथ में आने वाले

---

[1] स्वप्न-लोक में आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कण्ठा में पूर्ण था।
× × ×
आँख खोल देखा तो चन्द्रलोक से
× × ×
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।
मै व्याकुल हो उठा कि तुम को अंक में
ले लूँ,……………………………
मस्त हुई आँखें सोने को जग पड़े
सुप्त सकल उद्वेग मधुरतम मोह था।

व्याघातों का भी सुन्दर चित्र है। ऐसी भावनाओं का आधार अलौकिक ही कहा जायगा। भक्ति-साहित्य के परिचितों से कहना न होगा कि इस पथ पर सबसे अधिक परेशानी मन की चंचलता से होती है। 'अव्यवस्थित' कविता में कवि ने अपनी इस दुर्बलता को बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

विश्व के नीरव निर्जन में
जब करता हूँ बेकल चंचल मानस को कुछ शांत।
होती है कुछ ऐसी हलचल हो जाता है भ्रांत॥
भटकता है भ्रम के बन में
जब करता हूँ कभी प्रार्थना कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार॥

'असन्तोष' कविता में भी कवि ने अपनी दुर्बलता पर कोप प्रकट किया है :

न हो जब मुझको सन्तोष, तुम्हारा इसमें क्या है दोष।

यहाँ कवि रहस्यवादियों की तरह सर्वात्मवादी भी है—

रोम-रोम रम रहे कैसे तुम राम हो।

कवि की विराट्ता से सम्बद्ध कविताओं में आधुनिकता का भी स्वर है। विराट् से वह कहता है—

दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति,
करुणा के साथ कभी उनके भी कभी होते चलो।

× × ×

सुखी कर विश्व भरे स्मित सुखमा से मुख,
सेवा सबकी हो तो प्रसन्न तुम होते चलो।

'झरना' कवि का आत्माभिव्यंजन है, इसीलिए इसमें प्रकृति के अधिक चित्र नहीं हैं; पर जो हैं, वे बड़े सुन्दर हैं। अलंकारों में अप्रस्तुत के अतिरिक्त प्रकृति यहाँ प्रमुखतः दो रूपों में आई है। एक तो पृष्ठभूमि के रूप में, जैसे-'मिलन' या 'झील में' कविता में, और दूसरे स्वतन्त्र रूप में, जैसे-'किरण' या 'पावस प्रभात' आदि। छायावादी कवियों मे प्रकृति के चित्र के प्रायः दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। एक तो चित्रात्मक, जिसमें उसकी सजीव मूर्ति चित्रित की जाती है और दूसरे भावात्मक, जिसमे मानव-भावनाओं (प्रेम, मिलन, संकेत करना, मुस्कान आदि) का प्रकृति पर आरोपण करके उनके भावों या कार्य-कलापों का वर्णन किया जाता है। प्रसाद में 'झरना' के पूर्व प्रथम प्रकार के चित्र ही अधिक थे, पर 'झरना' मे बात उलट गई है। अन्तर्मुखी कवि प्रकृति के भी हृदय में प्रवेश करना चाहता है। यों पहले प्रकार के चित्रों का

भी यहाँ अभाव नही है। 'किरण' में दोनों बातें है।

'झरना' में प्रकृति के सम्बन्ध में दो बातें और। यहाँ प्रकृति प्रायः कवि की प्रेम-भावना से अभिभूत है, साथ ही वह कवि के प्रिय से भी उसी भाँति सम्बद्ध है। इस प्रकार कवि धीरे-धीरे प्रकृति को मानव से अभिन्न देखने लगा है।

'किरण' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन ?

प्रसाद की हिन्दी को गीतिकार के रूप में भी महान् देन है। उनके गीतिकार का प्रथम रूप, जो प्रारम्भिक और प्रयोगकालीन है, 'झरना' में दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व कवि की वृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं। वेगीति के लिए उपयुक्त नही हो सकती थीं। छन्द की दृष्टि से 'झरना' के गीत तीन प्रकार के हैं। एक तो प्राचीन ढंग के गीत मध्यकालीन पदों के रूप में है, जिनका कबीर, सूर, मीरा, तुलसी आदि ने प्रयोग किया है। दूसरे आधुनिक ढंग के। 'आज इस घन अँधियारी में' या 'आया देखो विमल वसन्त' पुराने हैं तो 'वसन्त' आदि नये।

तीसरे प्रकार के तीन नये या पुराने गीत-छन्द में नहीं हैं पर गीति-तत्त्व की प्रमुखता से वे भी गीत ही हैं। 'प्यासा' या 'निवेदन'-जैसी कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

इस रचना के गीतों में प्रमुखतः प्रेम और उससे सम्बद्ध भावनाओं के चित्र है, कहीं-कही अपवाद रूप से प्रकृति भी है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'झरना' का गीतिकार बहुत सफल न होकर प्रयोक्ता मात्र है; पर उसके प्रारम्भिक रूप में ही 'आँसू' और 'लहर' के गीतिकार की सम्भावना स्पष्ट है।

'झरना' की रचना में केवल 'किरण', 'अव्यवस्थित' तथा 'विषाद' आदि कुछ ही कविताएँ कला की दृष्टि से अच्छी है। अधिकांश में केवल भाव-पक्ष ही दर्शनीय है। कहीं-कहीं (जैसे 'किसी पर मरना यही तो दुःख है' आदि) तो कला का स्तर बहुत ही सामान्य है। गीति-काव्य में आवश्यक संगीत और ध्वनि की भी कमी है। शैली कहीं नाटकीयता के कारण बड़ी आकर्षक हो गई है, पर दूसरी ओर लौकिकता-अलौकिकता के बीच आँख-मिचौनी के कारण कहीं-कहीं शैली में अस्पष्टता का दोष भी है। चित्रात्मकता ('किरण' के लिए

कवि कहता है—'धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश') बहुत कम स्थलों पर है भाषा व्यंजक, सांकेतिक और प्रतीकात्मक होने लगी है। 'झरना', 'वसंत', 'प्रथम प्रभात' आदि में प्रतीकात्मकता स्पष्ट है। 'तभी कामना के नूपुर की हो जाती झंकार' की व्यंजना भी अभूतपूर्व है। अलंकारों के भी कहीं-कहीं सुन्दर प्रयोग हैं। 'किरण' कविता इस दृष्टि से बड़ी सफल है, उपमानों का जैसा अम्बार है, पर पिलपिला या और उबाने वाला नही। व्यंजक और निर्देश (सजेशन) से अपूर्ण मानवीकरण—

मन मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।

के भी बड़े मोहक रूप मिलते है। कवि कल्पना की दृष्टि से भी श्रीपूर्ण है। इस प्रकार कवि के कला-उपवन में आने वाले वसंत की सूचना 'झरना' में भली भाँति मिल जाती है।

छन्द की दृष्टि से कवि ने पुराने पद, कवित्त, ताटंक और वीर से लेकर कई प्रकार के नवीन-जैसे अतुकांत अरिल्ल या छायावाद का १६ मात्राओं वाला, प्रिय और प्रसिद्ध छन्द (**शरद का सुन्दर नीलाकाश, निशा निखरी या निर्मल हास।**) आदि का प्रयोग किया है। पर यहाँ भी प्रयोग ही है।

'झरना' पर पड़े बाह्य प्रभावों का उल्लेख यत्र-तत्र ऊपर किया गया है। यहाँ समवेत रूप से कहा जा सकता है कि रवीन्द्र की 'गीतांजलि' की रहस्यवादिता, कुछ रीतिकालीन कवियों के भाव एवं उर्दू के कवियों की तरलता, 'पीड़ावाद','बदनाम न करो'-जैसे विचार आदि का प्रभाव 'झरना' पर स्पष्ट है।

सारी बातों को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि 'झरना' का विशेष महत्त्व कवि की प्रयोगशाला के रूप में ही है। इसी प्रयोगशाला के प्रयोगों पर प्रसाद की 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी'-जैसी भावी कृतियाँ खड़ी है। इस प्रकार की प्रयोगशाला में किसी निश्चित दिशा की प्राप्ति न होना भी स्वाभाविक ही है।

८

आँसू

'झरना' की प्रयोगशाला की प्रथम आविष्कृति 'आँसू' है। कहा जाता है कि इसकी रचना कवि ने 'कामायनी' में एक सर्ग के रूप में सम्मिलित करने के लिए की थी, पर फिर कथानक में ठीक न बैठने के कारण वह ऐसा न कर सका। 'आँसू' एक विरह-काव्य है। प्रसाद को अतीत से अत्यधिक प्रेम है। नाटकों तथा आख्यानक-काव्यों में उन्होने देश के अतीत को चित्रित किया है तो 'आँसू' में अपने-आपके अतीत को। इस रूप में विरह-काव्य के साथ यह स्मृति-काव्य भी है। यों तो अपने प्रेम-सिक्त जीवन की कुछ झाँकी कवि ने 'झरना' मे भी दी है, पर वहाँ कई कारणों से वह इतना मुखर और स्पष्ट नहीं हो सका है। यहाँ तो उसने साहस बटोरकर और संकोच छोड़कर अपने-आपको खोलकर रख दिया है। यह उसकी आत्माभिव्यक्ति है। एक ओर यदि अतीत के स्मरण के रूप में मिलन की मादक घड़ियों के इसमें चित्र हैं, तो दूसरी ओर विरह की सारी कसक, टीस, कचोट, वेदना और उसके व्यथित एवं दग्ध हृदय के मूर्त्त हाहाकार तरलित होकर इसके छन्दों में बिखर गए है। उसकी तड़पन के ये रस-सिक्त, मोहक और मर्मस्पर्शी शैली में अविकल अनुवाद केवल नाम के ही नहीं, सचमुच आँसू है—गीले, सजल। पर इतना ही नहीं, आँसू की इन खारी बूँदों में एक मादक मिठास भी है, जो पाठक को सराबोर किये रहता है। यही कारण है कि छायावाद के सारे श्री-समृद्ध-फूलों और शूलों को समाहित करने वाली इस कृति ने छंद, शैली, संगीत, शब्द-योजना आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी के अनगिनत कवियों को प्रभावित किया है, प्रेरणा दी है, और नव-युवकों के तो हृदय की हार रही है, है भी। पीड़ा और मादकता का यह अपूर्व मिश्रण अपने-जैसा आप है। प्रसाद प्रेमी थे, कवि थे और थे दर्शन के चिन्तक, उनके व्यक्तित्व के इन तीनों पक्षों का समन्वित रूप जितना इस कृति में उभरा

है, उतना किसी में नहीं। कुछ लोगों का यह कहना ठीक ही है कि कुछ दृष्टियों से यह रचना 'कामायनी' से भी अधिक सशक्त और आगे है। पर अपनी सीमाओं के साथ।

'आँसू' की रचना १९२३-२४ में हुई थी। '२५ में इसका पहला संस्करण निकला। इसमें कुल १२६ छन्द थे। मुक्तकता अधिक थी, इसीलिए आचार्य शुक्ल को अपने इतिहास में लिखना पड़ा, "सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता।" इसमें कवि के वियोग और उपालम्भ का प्राधान्य था। पुस्तक पढ़ने से अनुमान लगता है कि कवि ने किसी से प्रेम किया था। प्रेम-व्यापार कुछ दिनों तक चलता रहा। पर फिर कवि के प्रिय ने सम्भवतः उसे अपनाना छोड़ दिया और इस प्रकार अचानक प्रेम समाप्त हो गया। सुख से भरा जीवन विरह की वेदना से भर गया और यह काव्य उसके हृदय से फूट निकला। 'आँसू' के प्रथम संस्करण की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार थी—

कवि आरम्भ में अपने दुःख की तीव्रता और अगाधता से आश्चर्य-चकित है। बीते सुख के लिए रोता है, फिर अपनी परिस्थिति का विश्लेषण करता है और 'तब' और 'अब' की तुलना भी करता है। फिर उसे मिलन की स्मृति हो आती है। आगे चलकर अपने प्रिय के सुन्दर रूप का चित्र खींचता है और फिर मिलन और उसके बाद की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अपनी वियोग-दशा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है तथा प्रिय को उपालम्भ भी देता है। अंत में जीवन, उसके आवर्त-विवर्त तथा मृत्यु आदि पर प्रकाश डालता हुआ निस्संग, निर्लिप्त होकर सुख-दुःख से उदासीन हो दोनों को एक करने और विरह-मिलन का परिणय करने की दार्शनिक बात करता है। अन्तिम छंद था—

चेतना लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की, विच्छेद मिलन फिर होगा॥

'आँसू' का दूसरा संस्करण ८ वर्ष बाद १९३३ में प्रकाशित हुआ। पहले संस्करण की तुलना में यह बहुत परिवर्तित था। पहले संस्करण में कुल १२६ छन्द थे, दूसरे में इसकी संख्या १९० हो गई। इस बीच जो छन्द लिखे गए थे, उन्हें भी कवि ने मिला दिया और इस प्रकार 'आँसू' का आकार लगभग एक-तिहाई बढ़ गया। छन्दों का पिछला क्रम भी बहुत बदल दिया गया, जिसके कारण मुक्तक होते हुए भी इसमें एकसूत्रता आ गई और शुक्लजी का 'समन्वित प्रभाव निष्पन्न न होने वाला' आक्षेप दूर हो गया। तीसरा अन्तर

बहुत महत्त्वपूर्ण न होने पर भी जानने योग्य है। प्रथम संस्करण में वर्तमान व्यथा का चित्र था। लगता है कि उक्त घटना घटे अभी कुछ ही समय हुआ था। इसी कारण उसमें प्रायः वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग था—

झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरव माला।

पर दूसरे संस्करण तक वे बातें अतीत की स्मृति की चीजें हो गई थीं, अतः प्रायः सर्वत्र वर्तमान काल के स्थान पर अतीत काल की क्रियाओं का प्रयोग किया गया—

झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरव माला।

इसीसे सम्बद्ध परिवर्तन निकटता-द्योतक शब्दों के स्थान पर दूरी-द्योतक शब्दों को रखकर भी किया गया। कहीं-कहीं मध्यम पुरुष सर्वनाम के स्थान पर अन्य पुरुष कर दिए गए—

दुख क्या था तुमको मेरा, जो सुख लेकर यों भागे।

के स्थान पर

दुख क्या था उनको मेरा, जो सुख लेकर यों भागे।

इसी प्रकार 'तुम' के स्थान पर 'वह' भी कुछ स्थानों पर कर दिया गया है।

चौथा परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। कवि ने बहुत-से पुराने छन्दों में कुछ शब्दों को परिवर्तित करके 'आँसू' में अलौकिकता की दीप्ति ला दी है। साथ ही उसे व्यक्ति के साथ समष्टि या जगत् से भी सम्बद्ध कर दिया। पहले संस्करण के छन्द स्पष्टतः मानव-जीवन के थे। दूसरे मे ऐसे परिवर्तन आ गए कि लौकिकता-अलौकिकता को लेकर भ्रम होने लगता है। बहुत-से आलोचकों को हुआ भी है। साथ ही इसका वेदना-दर्शन या जीवन-दर्शन का पक्ष भी सबल हो गया। इस प्रकार के परिवर्तनों में कवि के मनोवैज्ञानिक विकास के चिह्न स्पष्ट हैं। दूसरे संस्करण के इस परिवर्तन से एक हानि भी हुई और यह कि 'आँसू' में जो आत्मीयता तथा निजी स्पर्श-जैसी चीजें थीं, जिनके कारण उसकी सजीवता द्विगुणित हो जाती थी, वे निकल गईं।

कुछ परिवर्तन ध्वनि, भाषा या छन्द-गति के सौन्दर्य की दृष्टि से भी किये गए। ऐसे परिवर्तनों में कवि की कलागत-प्रौढ़ि का पता चलता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मैं बल खा-खा जाता था,

के स्थान पर

मैं बल खाता जाता था,

यहाँ 'खा खा' की कर्कशता तो निकल ही गई, भाव में भी कुछ सौन्दर्य आ गया है।

इन परिवर्तनों को लेकर दो प्रकार के मत व्यक्त किये गए है। कुछ लोगों का कहना हैं कि नये छन्द जोड़ना और क्रम-परिवर्तन तो ठीक था, पर शब्दों का परिवर्तन करके कवि ने उचित नहीं किया। दूसरी ओर कुछ लोग कहते हैं कि इन संशोधनों से किसी भी प्रकार की हानि नहीं हुई है, अपितु कृति का बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य और बढ़ गया है। मैं समझता हूँ कि दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। कवि ने निजी स्पर्श या संबोधित करके छन्दों को कहना या इसी प्रकार की अन्य मार्मिक बाते जहाँ निकाल दी है, काव्य की आत्मीयता और सजीवता को निश्चय ही धक्का पहुँचा है; पर साथ ही समस्त रूप से परिवर्तनों को देखने पर यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि नये रूप में यह कृति अधिक व्यापक, उदात्त एवं जीवन-दर्शन से युक्त हो गई है। कवि वेदना को सार्वभौम रूप दे देता है और लोक-कल्याण की भावना से उसमें एक नई आभा ला देता है। साथ ही थोड़ा-सा रहस्यवादी स्पर्श आ जाने से इसका गम्भीर्य और आकर्षण भी बढ गया है। इसके पूर्व वह अत्यन्त स्पष्ट थी। कला में थोड़ी अस्पष्टता, कहना न होगा कि, मोहक होती है। उससे पाठक की कल्पना को कुछ अवकाश मिलता है।

'आँसू' के नये परिवर्तित-परिवर्द्धित संस्करण के भाव अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार हैं—

वियोग की वह्नि में दग्ध कवि कृति का आरम्भ अपने हृदय की स्थिति से करता है, क्योंकि पूरी कृति सिसकती भावनाओं का अविकल अनुवाद होता है। वह कहता है—

"इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती॥

क्यों पुरानी स्मृतियाँ मानस में जग रही है और मेरी प्रतिध्वनि शून्य क्षितिज से लौट आती है? ये स्मृतियाँ महामिलन की अवशेष हैं। मेरे प्रेम के सागर में वाडव-ज्वाला सोती थी। अब स्मरण-मात्र से हृदय में उथल-पुथल मच गई है। गरम-गरम आँसू गिर रहे है। प्रिय के स्मृति-चरण से मेरे हृदय के छाले छिल उठे हैं और वे ही फूट-फूटकर आँसू के रूप में बह रहे है। अब भला मैं सुखी कैसे रह सकता हूँ। वह प्रेम की क्रीड़ा मादक थी, पर अब उसी प्रेम से उत्पन्न विरह की पीड़ा हृदय हिला देने वाली है।"

'आँसू' के बारे में वह फिर कहता है—

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई ।
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई ।।

फिर कवि अपने प्रिय को सम्बोधित करके अपनी व्यथा कहता है। उसे प्रिय के प्रथम आगमन का स्मरण हो आता है और उसे भी शब्दबद्ध करता है—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए ।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल-से तुम आए ।।

इसके आगे प्रिय के नख-शिख का बड़ा मोहक वर्णन है। कुछ छन्द दर्शनीय हैं—

लावण्य शैल राई-सा, जिस पर वारी बलिहारी ।
उस कमनीयता कला की, सुषमा थी प्यारी-प्यारी ।।

× × × ×

विकसित सरसिज-वन वैभव, मधु-ऊषा के अंचल में ।
उपहास करावे अपना, जो हँसी देख ले पल में ।।

× × × ×

चंचला स्नान का आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी ।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी ।।

फिर कवि मिलन का बड़ा मांसल किन्तु सांकेतिक वर्णन करता है। वह यह भी कहता है कि वे सुन्दर घड़ियाँ अब कहाँ आने को हैं। उसे पुनः बीती बातें याद आती है और फिर वह अपनी वर्तमान वेदना और हृदय-विदारक स्थिति के चित्र खींचता है और प्रकृति के व्यापारों में प्रिय के स्पर्श का अनुभव करता है। कभी वह संसार के छल से ऊबता है, तो कभी इस ऊब में संसार से परे जाना चाहता है। प्रिय के अभाव में उसे चारों ओर शुष्कता और एकाकीपन के दर्शन होते है।

इसके बाद कवि का हृदय-पक्ष कुछ दबता और बुद्धि तथा दर्शन जगता है। यह कहता है कि संसार में सुख-दुःख दोनों ही तो हैं। विरह और मिलन का भी समावेश है—

मानव-जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन का ।
दुःख-सुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का ।।

इन पंक्तियों में वह अपने और संसार के लिए, दोनों के समन्वय की कामना करता है।

आगे कहीं-कहीं फिर विरह की कसक रह-रहकर उठती है, उपालम्भ

भी देता है। आधुनिक युग के दुखी लोगों की ओर संकेत करता या कुछ अन्य बात भी कहता है। पर उल्लेख्य विषय उसका वेदना-दर्शन ही है। वह अपनी वेदना से विश्व-मंगल की कामना करता है। उसे कभी मानवता के सिर की रोली कहता है, तो कभी कल्याणी शीतल ज्वाला कहकर निर्मम जगती को उजाला देने को कहता है। अन्तिम छन्द भी इसी प्रकार की कल्याणकारी भावनाओं से ओत-प्रोत है—

सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिम-कण-सा, आँसू इस विश्व सदन में॥

इस प्रकार निराशा से आरम्भ होकर आशा, मंगल और कल्याण में 'आँसू' का अन्त होता हैं।

'आँसू' एक गीति-काव्य है। स्वानुभूति का प्रकाशन, संगीतात्मकता, आवेग और तीव्रता, भावप्रवणता और विह्वलता तथा मार्मिकता और प्रभविष्णुता आदि तत्त्व इसमें इतनी अधिक मात्रा में हैं कि हिन्दी के कम ही गीति-काव्य इसके समकक्ष कहे जा सकते हैं। पर इतना-मात्र कह देने से ही इसकी काव्य-विधा का वर्णन नहीं हो जाता। 'आँसू' मुक्तक है, पर एकसूत्रता का आभास लिये हुए। इसके छन्दों में तारतम्यता है। मीराँ या सूर के छन्दों का कोई संग्रह हम उठा लें तो उनमें मुक्तक का आनन्द तो आयेगा पर हर छन्द अलग-अलग बिखरा लगेगा। 'आँसू' की यह अपनी विशेषता है। उसके हर छन्द मुक्तक हैं। उनमें मुक्तक की पूर्णता और चुभन मिलेगी, पर सम्मिलित रूप से 'आँसू' एक प्रबन्ध-काव्य-सा है। भाव-धारा अस्पष्ट रूप में ही सही, पर जुड़ी मिलेगी। यह वह मोतियों का हार है जिसमें हर मोती अलग-अलग भी है और एक माला की इकाई रूप में भी। 'आँसू' आँसू है। उसकी इस विशेपता को देखते हुए कहना पड़ता है कि मुक्तक या प्रबंध-जैसी कोई प्रचलित साहित्यिक बिधा उसे पूर्णतः ढक नहीं पाती। प्रसाद के व्यक्तित्व-जैसा ही उनका 'आँसू' भी है। वे रहस्यवादी हैं, छायावादी हैं, आदर्शवादी हैं, यथार्थवादी हैं और प्रगतिवादी है; पर इन सबसे ऊपर वे प्रसादवादी हैं। वे ये सभी वादी हैं, पर कुछ और भी हैं। वाद उन्हें बाँध नहीं सकते। 'आँसू' भी हाथी का पाँव है। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना'। वह किसी मे भी नही बँधेगा।

'आँसू' के आलम्बन को लेकर भी विद्वानों में विवाद रहा हैं। कुछ लोग उसे अलौकिक सत्ता मानने के पक्ष में रहे है। अर्थात् सूफियों की भाँति प्रसाद ने ब्रह्म को प्रियतमा रूप में देखा और उसीसे सम्बद्ध विरह का वर्णन 'आँसू' में है। 'आँसू' में रहस्य या अलौकिक की ओर संकेत करने वाले कुछ शब्द या

पंक्तियाँ भी इसीका समर्थन करती है। दूसरी ओर कुछ लोगों का कहना है कि 'आँसू' का आलम्बन कोई लौकिक ही है, अलौकिक नही। दूसरी ही बात ठीक मालूम पड़ती है। इसके लिए कई तर्क दिये जा सकते है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि, 'आँसू' अपने मूल रूप में (पहला संस्करण) अलौकिकता या रहस्यवादिता से दूर था। दूसरे संस्करण में कवि ने सशोधनों द्वारा उसे नया रूप दिया। अतएव स्पष्ट है कि अलौकिकता या रहस्यवादिता लादी हुई है, प्रकृत नहीं है। दूसरे, इसमें जो रूप-वर्णन है वह इतना सजीव और मांसल है कि स्पष्टत: किसी हाड़-माँस के पुतले की ओर संकेत करता है। कवि का आशय यदि उस विराट् सौंदर्य से होता तो वह भी सूफियों की भाँति 'नूर' का वर्णन करता। तीसरे, कवि ने

परिरंभ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके।
मुखचन्द्र चाँदनी जल से, मैं उठता था मुँह धोके।।

कुछ अन्य छन्दों मे जिस शारीरिक क्रिया का उल्लेख किया है, वह भी इसीका समर्थन करती है। चौथी बात यह है कि कबीर आदि बहुत-से हिन्दी और हिन्दीतर कवियों ने ब्रह्म को प्रियतम या प्रेयसि मानकर विरह का वर्णन किया है, पर वह विरह इतना मूर्त्त और मानवीय नही है। ब्रह्म से विरह की कल्पना हो सकती है। पर 'आँसू' का विरह स्पष्टत: अनुभूत ज्ञात होता है। यदि ऐसा न होता तो उसमें इतनी बोधकता और मार्मिकता न होती।

श्री रामनाथ 'सुमन' ने अपनी 'प्रसाद की काव्य-साधना' में लिखा है—"जिन दिनों 'आँसू' लिखा जा रहा था, तभी मैंने इसके छन्द सुने थे। सुनकर कहा—'इसमें तो आप छिप-न सके, बहुत स्पष्ट हो गए।' कवि हँसकर चुप रह गया।" यह भी उसीका समर्थक है। प्रसादजी के घनिष्ठ मित्र श्री विनोदशंकर व्यास ने भी कुछ इस प्रकार के सकेत दिये हैं। उनकी रचनाओं मे भी इस बात के संकेत हैं कि उनके जीवन में इस प्रकार की कोई घटना घटी थी।

'झरना' मे कवि कहता है—

(क) कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तब अपांग की धारा।।
(ख) निर्दय होकर अपने प्रति अपने को तुमको सौंप दिया।

अपनी 'आत्म-कथा' में भी कवि ने कहा है—

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर जो भाग गया।।

जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है, थके पथिक की पंथा की।

मुझे लगता है कि 'आत्म-कथा' और 'झरना' के संकेतों से ही 'आँसू' भी सम्बद्ध है। इस प्रकार आलम्बन लौकिक है, अलौकिक नहीं।

'आँसू' मे आलम्बन को सर्वत्र पुल्लिग रूप मे रखा गया है—

(क) पर एक बार आए थे निःसीम गगन में मेरे।
(ख) वे सुमन नोचते सुनते करते जानो मनमानी।।

यहाँ तक कि जहाँ 'अंचल'[1] का वर्णन है वहाँ भी कवि ने पुल्लिग का ही प्रयोग किया है—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल[2] में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में कौतूहल-से तुम आए।।

कहना न होगा कि स्त्री के लिए यह पुल्लिग का प्रयोग उर्दू का प्रभाव है।

यहाँ एक यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब आलम्बन लौकिक था तो दूसरे संस्करण में उसे अलौकिकता से दीप्त क्यों किया गया। इस सम्बन्ध में भी कई प्रकार की बातें कही गई है। कुछ लोगों के अनुसार विरह ने बढ़कर आध्यात्मिक सीमा छू ली है। पर यह बात गले से नीचे नहीं उतरती। पहले संस्करण में विरह कम था और दूसरे में बढ़ गया! या बढ़ भी गया तो बढ़ा हुआ विरह आध्यात्मिकता को क्यों छूने लगा?

इसके लिए दो ही कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है। एक तो बंगला के प्रभाव से फैली तत्कालीन प्रवृत्ति का प्रभाव और दूसरे वैयक्तिक अनुभूति के उदात्तीकरण की भावना।

आध्यात्मिक, रहस्यात्मक या अलौकिक संकेत देने वाली दो प्रसिद्ध पंक्तियाँ ये है—

कुछ शेष चिह्न है केवल मेरे उस 'महा मिलन' के।

× × ×

---

[1] इसका वर्णन स्त्री के प्रकरण में ही हो सकता है, पुरुष के नहीं। अंचल में दीप छिपाकर स्त्रियाँ ही आती है।

[2] पहले सस्करण में 'अंचल' था। दूसरे संस्करण में सम्भवतः अलौकिकता या रहस्यवादिता के स्पर्श के लिए 'अन्तर' कर दिया गया था, पर बाद के संस्करणों में इसे पुनः 'अंचल' कर दिया गया।

माना कि रूप सीमा है सुन्दर तव 'चिरयौवन' में ।

यहाँ एक बात और संकेत्य है । अलौकिकता का संकेत करने वाले स्थल बहुत अधिक नहीं हैं ।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि आध्यात्मिक अर्थ न लेने पर 'आँसू' की महत्ता समाप्त हो जाती है, पर इस बात को भी मानना पूर्णतः असम्भव है । हृदय की यथार्थ अनुभूतियाँ बिना दुराव-छिपाव के मोहक चित्रण अपने-आपमें महान् है । उसे महान् बनाने के लिए निश्चय ही अध्यात्म की धूनी की आवश्यकता नहीं ।

वेदना, दुःख तथा आह छायावादी कवियों की अमूल्य निधियाँ है । इसके दो कारण हैं । एक तो तत्कालीन भारतीय जीवन का राजनीतिक तथा आर्थिक शोषण और उसके विरुद्ध उठने पर कुचला जाना तथा असफलता का उपहार मिलना, दूसरे उनके व्यक्तिगत जीवन के दुःख और उनकी असफलताएँ । इन दोनों कारणों ने मिलकर पीड़ा या वेदना को घनीभूत कर दिया है । प्रसाद का जीवन भी किशोरावस्था के बाद से ही संघर्षों और दुःखों में बीता । प्रेम के क्षेत्र में भी उनका अनुभव कटु ही रहा । उन्होंने उसे 'नाहर' कहा है । यही कारण है कि आरम्भ से ही वेदना के स्वर को उनके काव्य में 'विषाद' या अन्य कविताओं के रूप में अभिव्यक्ति मिलती रही । यहाँ आकर कवि ने अपनी वेदना को विराट् रूप में सामने रखा । आँसू का मेरुदण्ड कवि की वेदना ही है । वेदना के कारण ही आरम्भ में वह दुखी, निराश और विपन्न है, पर धीरे-धीरे अपनी वेदना का प्रसार करके अपने दुःख और निराशा को एक स्वस्थ जीवन-दर्शन में परिवर्तित कर देता है । 'आँसू' पढ़ने पर स्पष्ट लगता है कि आरम्भ में एक वियोगी सिसक रहा है, पर अन्त में एक दार्शनिक सान्त्वना दे रहा है । निराशा-भरे करुण क्रन्दन के कर्दम से आशा, विश्वास और मंगल का कमल निकला है । मिट्टी ने सोना दिया है । यह कवि की सबसे बड़ी सफलता है । यदि 'आँसू' केवल रोना होता तो सत्य होता, सुन्दर भी होता, पर शिव न होता । पर कवि ने अपने इस छन्द—

मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का ।
सुख-दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का ।।

का स्पर्श कराकर लोहे का कंचन बना दिया है । महादेवी तथा पंत ने भी इस प्रकार के सुख-दुःख के समत्व के भाव व्यक्त किये हैं । कवि सोचता है कि जीवन में विरह भी है और मिलन भी, सुख भी और दुःख भी, फिर रोना

क्या ।[1] वह इसे नियति का वरदान मानता है । अपनी वेदना को सम्बोधित करके भी वह अमृत देता है—

निर्मम जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला ।
इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला ॥

कवि की कामना है कि उसकी ज्वाला (वेदना) विश्व को मंगलमय उजाला दे । सचमुच उजाला ज्वाला या वेदना से ही मिल सकता है । यही सहानुभूति की निधि है, जो विश्व को समीप लाती है । और भी—

जग-द्वन्द्वों के परिणय की, हे सुरभिमयी जयमाला ।
किरणों के केसर रज से, भव भर दो मेरी ज्वाला ॥

आँसू को लेकर भी कवि कहता है—

आँसू वर्षा से सिंचकर, दोनों ही कूल हरा हो ।
उस शरद् प्रसन्न नदी में, जीवन द्रव अमल भरा हो ॥

× × × ×

सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में ।
बरसो प्रभात हिम-कन-सा आँसू, इस विश्व-सदन में ॥

इसे ही आलोचकों ने कवि का जीवन से समझौता कहा है । आरम्भ में वह दुःख से सिसकता है, निराश होता है, पर फिर उसकी वेदना का प्रसार होता है और संसार में उसे चारों ओर दुःख दिखाई पड़ता है । वह देखता है कि गुलाब के पेड़ की तरह इस जीवन में—संसार में शूल और फूल दोनों हैं । दुःख-सुख, वियोग-संयोग, आशा-निराशा, उत्थान-पतन—यह जीवन का शाश्वत क्रम है, विश्व के मिट्टी और पानी, प्रकाश और अन्धकार की तरह—

लिपटे सोते थे मन में, सुख-दुख दोनों ही ऐसे ।
चन्द्रिका अँधेरी मिलती, मालती कुंज में जैसे ॥

अब बात उसकी समझ में आ जाती है कि जीवन इन विषमताओं का सामंजस्य है । जीने के लिए दोनों ही का मुस्कान से अभिनन्दन करना होगा । दोनों का समन्वय, सामंजस्य । यह कैसे होगा ? कवि कहता है ममत्व को त्यागकर दोनों से उदासीन होकर, और निस्संग, निर्लिप्त भाव से नियति की दी हुई इन विषमताओं को अपनाकर—

हो उदासीन दोनों से, दुख-सुख से मेल करायें ।
ममता की हानि उठाकर, दो रूठे हुए मनायें ॥

---

[1] **वह हँसी और यह आँसू, घुलने दे मिल जाने दे ।**
बरसात नई होने दे, कलियों को खिल जाने दे ॥

इस प्रकार कवि ने व्यष्टि को समष्टि मे पर्यवसित करके अपनी अनुभूति का प्रसार करके आँसू की वेदना द्वारा आशावाद का एक महान् जीवन-दर्शन दिया है। अपने इस अमर सन्देश के कारण 'आँसू' हिन्दी की अद्वितीय रचना है।

कुछ लोग प्रसाद की वेदना पर बौद्ध प्रभाव मानते हैं, पर तथ्य यह है कि प्रसाद की वेदना बौद्धों की वेदना से भिन्न है। बौद्धों की वेदना तो संन्यास का सन्देश देती है। सन्तों ने भी जीवन के शूलों का विराट् चित्र खीचकर जीवन का भयावह रूप सामने रखा है। वस्तुतः ये दोनों दृष्टियाँ पलायनवादिनी है। प्रसाद मे यह पलायनवाद नही है। वे तो वेदना और सुख दोनों को अपनाकर जीवन को अपनाने का सन्देश देते है, उससे घृणा करने का नही।

वह हँसी और यह आँसू, घुलने दे मिल जाने दे।

'आँसू' में वेदना के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं। एक तो कवि की व्यक्तिगत वेदना, दूसरी आध्यात्मिक वेदना, जिसकी झलक मात्र है; और तीसरी जगत् की वेदना। कहना न होगा कि इसमें आधार तथा प्राधान्य कवि की ही वेदना का है। आध्यात्मिक वेदना का तो कहीं-कहीं हाशिया मात्र है। उसे आभास भी कह सकते है। जगत् की वेदना वाला अंश बाद का है तथा वह व्यक्ति की अनुभूति के प्रसार का परिणाम है। अपनी वेदना के प्रसार से ही वह विश्व को वेदना से सन्तप्त देखता है और तब कहता है—

चुन-चुन ले के कन-कन से, जगती की सजग व्यथाएँ।

'आँसू' का भाव और वस्तु-वर्णन भी अपरूप है। यों तो संयोग के भी इसमें कुछ चित्र हैं, पर वियोग शृंगार से सम्बद्ध भावों, जैसे दीनता, स्मृति, चिन्ता तथा मोह आदि का तो जैसे खजाना है। करुणा अनेक छन्दों में साकार है। वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत प्रिय के रूप के चित्रण में भी कवि बहुत सफल है। नये और पुराने दोनों ही प्रकार के अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। कुछ छन्द देखे जा सकते हैं—

लावण्य शैल राई सा, जिस पर वारी बलिहारी।
उस कमनीयता कला की, सुषमा थी प्यारी-प्यारी॥
बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से?
विद्रुम सीपी सम्पुट में, मोती के दाने कैसे?
है हंस न शुक यह, फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे?

चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी।।

इस प्रकार की रचना मे प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन का तो प्रश्न ही नही उठता, पर अप्रस्तुत, प्रतीक तथा कही-कही और पृष्ठभूमि, इन तीन रूपों में उसके पर्याप्त चित्र है।

प्रतीक— **पतझड़ था झाड़ खड़े थे, सूखी-सी फुलवारी में।**
किसलय नव कुसुम बिछाकर, आए तुम इस क्यारी में।।

(पतझड—शुष्कता. सूखी फुलवारी—नीरस जीवन। आदि)

अप्रस्तुत— **मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के।**

पृष्ठभूमि— **चातक की चकित पुकारें, श्यामा ध्वनि सरल रसीली।**

'आँसू' का कला पक्ष भी बहुत प्रौढ है। चामत्कारिक वाग्भंगिमा, अनूठा कल्पना-विलास, भावानुकूल कोमल लययुक्त चित्रात्मक शब्द-चयन, गागर में सागर की व्यंजना भरने वाला प्रतीक-विधान, लाक्षणिकता और प्राचीन-नवीन अलंकारों की धूपछाँही, इन सभी का एक समन्वित रूप भावों और रूपों की प्रभविष्णुता को बहुत ही विवर्धित कर देता है। सत्य यह है कि छायावादी कला और कल्पना का यहाँ सुन्दरतम प्रयोग है, सहज और स्वाभाविक; मोहक और मार्मिक।

यहाँ इन गुणों के सौन्दर्य की व्याख्या करने का अवकाश तो नहीं है, पर कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

ध्वन्यात्मकता—

निर्झर-सा झिर-झिर करता, माधवी कुञ्ज छाया में।

× × ×

छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मलकर मृदुल चरण से।

चित्रात्मकता—

विद्रुम सीपी संपुट में, विद्रुम के दाने कैसे?

स्थूल या सूक्ष्म उपमान—

मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गए थे।

सूक्ष्म का स्थूल उपमान—

मकरन्द मेघमाला-सी, वह स्मृति मदमाती आती।

कल्पना विलास—

चमकूँगा धूल कणों में, सौरभ में उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो, ग्रह पथ मे टकराऊँगा।

'आँसू' का छन्द २८ मात्राओं की दो पंक्तियों का है। पंक्ति मे १४ मात्राओं के बाद विराम होता है। हिन्दी में यह 'आँसू छन्द' नाम से प्रसिद्ध है। पिंगल पर पुस्तकें लिखने वाले कुछ विद्वानों ने भी इसके लिए इसी नाम का प्रयोग किया है, पर इसका प्राचीन नाम 'आनन्द' कहा जाता है।

'आँसू' के बाह्य और अन्तर पर लोगों ने बाहरी प्रभाव भी खोज निकाले है। कुछ वर्ष पूर्व 'कल्पना' में प्रकाशित एक लेख के अनुसार 'आँसू' पर बंगला के चण्डीदास तथा इन्दिरा देवी आदि की पंक्तियों का प्रभाव है। कुछ अन्य लोगों ने भी इस प्रकार बंगला की पंक्तियाँ ढूँढ़ी हैं। पर यथार्थतः इन समताओं मे भाव-साम्य ही है, प्रभाव नहीं।

अंग्रेजी से भी इसी प्रकार कुछ पंक्तियाँ ढूँढी गई है, पर वहाँ भी यही बात है। हाँ अंग्रेजी का भाषा पर या प्रयोग पर प्रभाव स्पष्ट है—

अवकाश—space
कोरी आँख निरखना—vaccent eyes
सुनहरी संध्या—golden eve
छूछा बादल—Empty cloud
आकाश तरंग—Ether Waevs आदि।

फ़ारसी-उर्दू के प्रभाव अधिक स्पष्ट हैं। **'छिल-छिल कर छाले फोड़े'** वाले छन्द का भाव तो निश्चय ही फ़ारसी-उर्दू की चीज है। भारतीय दृष्टि से उसमें वीभत्सा की गन्ध मिलेगी। **'मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गए थे'** में भी **'मैं मरीजे इश्क था मस्ती ने अच्छा कर दिया'**-जैसे सामी भाव हैं। एकाध प्रयोग भी उर्दू के छायानुवाद है—

शीतल ज्वाला—अतिशेनम

प्रसाद जी के एक घनिष्ठ मित्र थे रामानन्द जी। उनका 'उर्दू शतक' प्रसाद जी के आग्रह से ही प्रकाशित हुआ था। उस शतक की कुछ पंक्तियों का भी 'आँसू' पर ईषत् प्रभाव दिखाई देता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

आँसू—**बेसुध जो अपने सुख से, जिनकी है सुप्त व्यथाएँ।**
अवकाश भला है किनको, सुनने को करुण कथाएँ॥
शतक—**बुलबुल के रोने की न जाने सैयाद क़दर**
आशिक़ ही जाने क्या सय्याद उसे जाने है।

कहना न होगा कि ये सारे प्रभाव नगण्य-से हैं। इनसे 'आँसू' का शतांश भी अमौलिक नहीं सिद्ध होता। अधिक-से-अधिक प्रेरणा रूप में इनकी गणना हो सकती है।

विश्व-साहित्य में 'आँसू' के समकक्ष गेटे की 'सारोज ऑाव वर्थर' नामक रचना कही जाती है, जो एक उपन्यास के रूप में गद्य में लिखी गई है। गेटे ने भी प्रसाद की ही भाँति अपनी रचना में वेदना और निराशा से आरम्भ करके आशावाद का सन्देश दिया है।

९

लहर

'लहर' प्रसाद जी की बहुत ही प्रौढ रचनाओं का संग्रह है। इसका प्रकाशन 'आँसू' के पश्चात् १९३३ में हुआ। इसमें 'झरना' के बाद की लिखी गई स्फुट कविताएँ संकलित हैं। उनकी संख्या ३३ है। संग्रह में कवि की ओर से कोई भूमिका नही है। प्रकाशक की एक सूचना अवश्य छपी है, पर उससे पुस्तक पर कोई विशेष प्रकाश नही पड़ता। हाँ, इसके आरम्भ की कविता-सूची अवश्य कुछ सूचित करना चाहती है। सूची का शीर्षक है 'क्रम'। 'क्रम' के नीचे २९ कविताओं की प्रथम पंक्तियों के अंश दिये हुए हैं, और उसके बाद 'और कविताएँ' रूप में एक दूसरा शीर्षक देकर फिर चार कविताओं के नाम दिये गए हैं। आशय कदाचित् यह हुआ कि कवि आरम्भिक २९ कविताओं को 'लहर' शीर्षक की अधिकारिणी मानता है और शेष चार को उनसे अलग मानता है, इसीलिए उसने उनको 'और कविताओं' के नीचे स्थान दिया है। इस तरह कवि ने 'लहर' को दो भागों में विभक्त कर दिया है। आरम्भिक भाग की कविताएँ गीत हैं, उनके लिए शीर्षक नही दिये गए हैं और दूसरे भाग की कविताएँ गीत न होकर वर्णनात्मक, कुछ कथात्मक एवं कथोपकथनात्मक हैं, उनका सम्बन्ध प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक इतिहास से है तथा उनके लिए अलग-अलग शीर्षक दिये गए हैं।

पर, कवि द्वारा किये गए इन दो वर्गों से आगे बढ़कर 'लहर' की कविताओं को तीन-चार वर्गो में भी रखा जा सकता है। इसमें सबसे अधिक कविताएँ तो प्रेम और यौवन से सम्बद्ध हैं। उन्हें प्रणय-गीत कहा जा सकता है। इनमें बहुत-सी कविताएँ ऐसी भी है जो प्रणय-गीत होने के साथ-साथ रहस्यवादी छींटों से भी युक्त हैं। कुछ ऐतिहासिक हैं। इनमें कुछ में बौद्ध-दर्शन की भी छाप हैं। तीनों प्रकार की कविताएँ प्रमुखतः प्रकृति से सम्बन्धित हैं,

पर इनमें कहीं-कहीं कवि के प्रति प्रिय विषय प्रेम, शृङ्गार तथा रहस्यवाद की मादक और सौंधी छोंक हैं। एक कविता, आत्म-कथात्मक या आपबीती है, पर उसमें भी प्रमुख गन्ध प्रेम की ही है। इस प्रकार कई प्रकार की कविताओं के होने पर भी कवि का प्रमुख स्वर यहाँ भी धीमा नही है। इनमें उसकी चिरपरिचित सरसता, आर्द्रता और सुगन्धि है।

'आँसू' कवि का रुदन था। उसके द्वारा उसने अपने हृदय की हलचल और उसके झंझावत को समाप्त किया। रोने पर दुःख का हल्का हो जाना और हृदय का शांत हो जाना स्वाभाविक है। 'लहर' के रचयिता में उसी स्वाभाविक शान्ति के दर्शन होते है। 'आँसू' की भाँति 'लहर' मे हलचल नहीं है। 'झरना' की तुलना में 'लहर' नदी ही नहीं, अपितु कभी न अमर्यादित होने वाला गम्भीर सिन्धु है। 'आँसू' के अन्त में हमें कवि के चिन्तक रूप का दर्शन होता है, 'लहर' तक आते-आते उसकी चिन्तना और भी घनीभूत हो जाती है। व्यक्तिगत अनुभूतियों को अत्यन्त व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करके कवि समष्टि के दुःख के लिए रामबाण औषध के रूप में अपना समन्वयवादी तथा मध्यममार्गी स्वस्थ जीवन-दर्शन सुख-दुःख का समन्वय तथा किसी भी पथ पर अति से दूर रहना आदि—देता है। इस प्रकार 'लहर' का गीतिकार केवल भावुक गीतिकार नहीं, अपितु बौद्ध-दर्शन से प्रभावित एक गम्भीर विचारक—जिसने विचारणा को अपने अनुभव की आग में तपकर शुद्ध कुन्दन रूप में प्रस्तुत किया है—रूप में दृष्टिगत होता है। इस रूप में प्रसाद यहाँ अत्यन्त प्रौढ़ भावभूमि पर खड़े है, फिर भी अतीत, अपना मधुमय अतीत उन्हें पूर्णतः नहीं भूल सका है। उसको कवि रह-रहकर 'हसरत भरी निगाहों' से देखता है—**'आह रे वह अधीर यौवन !'** और उन मादक सुखों के पुष्प-पंखुड़ियों पर मदमस्ती पर लोटने की घड़ियाँ स्मरण आ-आकर कभी-कभी हताश-सा दुःख, हल्की-सी निराशा, टीस और कसक से कवि को अभिभूत कर देती हैं। उसे अपना जीवन पतझड़-सा सूखा नजर आता है और वह लहरों को आ-आकर सरस कर जाने का आमन्त्रण देता है, अभ्यर्थना करता है। यह शुष्कता उसकी अपनी तो है ही, जगत् की भी है। इस रूप में कवि के आत्मचित्र एक प्रकार से जगत् के भी चित्र हैं। पर उन्हें देखने का चश्मा उनका अपना है। इसी कारण अत्यधिक बहिर्मुखी रचनाओं में भी कवि को हम तटस्थ नहीं पाते। प्रसाद को पा भी नहीं सकते।

'लहर' की आत्मा का उपर्युक्त शब्दों में सामान्य परिचय जानने के बाद हम कुछ और गहराई में उतर सकते है। 'लहर' की पहली कविता 'लहर'

से ही सम्बद्ध है। इसी आधार पर इस पुस्तिका का नाम 'लहर' है। यह एक उद्‌बोधन-गीति है, जिसमें 'लहर' से उठने की प्रार्थना की गई है। इस रूप में इसे एक प्रकृति-विषयक कविता भी कह सकते है, पर यथार्थतः 'लहर' का प्रयोग यहाँ स्थूल न होकर प्रतीकात्मक है। 'प्रतीक रूप में लहर के कई अर्थ किये गए हैं। कोई इसे कवि की आन्तरिक भावना का प्रतीक मानता है तो कोई मानव-मन में उठने वाली मानसिक तरंगों और उनके घात-प्रतिघात का। मुझे इस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत अधिक ठीक लगता है। वे लिखते हैं—"लहर से कवि का अभिप्राय उस आनन्द की लहर से है, जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है।" कवि ने कहा है—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
यह खेल खेल ले ठहर ठहर !

इस सम्बन्ध में शुक्लजी आगे कहते है—"उसे ठहराने की पुकार अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को भी सरस करने के लिए कही जा सकती है और अखिल मानव-जीवन को भी।"

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रणय-गीत 'लहर' में सबसे अधिक हैं, कभी प्रत्यक्ष रूप में, कभी परोक्ष रूप में। कवि का प्रणय-काल अतीत में परिवर्तित हो चुका है, पर नशे की भाँति उसकी खुमारी अब भी शेष है। विगत यौवन के लिए वह बार-बार ललचाता है। उसके गाने से वह अधीर है। अतीत के इस आग्रह के मूल में कवि के वर्तमान जीवन में सरसता का अभाव है। इस प्रकार अपने अभाव को कवि दो रूपों में दूर करने का प्रयास कर रहा है। कभी तो पुरानी घड़ियों को दिवा-स्वप्न के रूप में अपने सामने ला करके और कभी 'आनंद की लहर' से आने के लिए प्रार्थना करके। प्रथम रूप में वह अपने अवचेतन या अन्तर्मन को आँकने का प्रयास करता है। इस प्रसंग में वह प्रिय को उलाहना भी देता है—'निधरक तूने ठुकराया।' कभी उसकी आकर्षक चीजों को याद करता है—

तुम्हारी आँखों का बचपन !
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था हँस हँस कर मन।

× × ×

सरलता का वह अपनापन,
आज भी है क्या मेरा धन ?

प्रणय-क्रीड़ाओं के चित्र कही-कही तो बड़े ही मोहक हैं । 'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप जाओगे' गीत इसी प्रकार का है, यद्यपि अन्त में कवि ने इन दो पंक्तियों

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें क्या है धरा सुनो ।
मानस जलधि रहे चिर चुंबित मेरे क्षितिज उदार बनो ।

के द्वारा गीत में एक रहस्यवादी दीप्ति भर दी है । वह कहता है कि व्यर्थ के तथाकथित ज्ञानियों के तर्कों—किसका स्वरूप क्या है, आत्मा कैसी है और ब्रह्म कैसा है—में क्या रखा है । बस तुम इतनी उदारता करो कि मेरा मानस चिरचुम्बित रहे । यही मेरे लिए पर्याप्त है ।

कवि कभी अपने प्रिय को अपनी आँखों की पुतली में प्राण बनकर समा जाने की प्रार्थना करता है, तो कभी उससे मुखचन्द्र दिखा जाने की अनुनय करता है, जिससे यह जल-सूखा जगत् वृन्दावन की तरह हरा-भरा हो जाय[1]—

जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचन्द्र दिखा जाओ ।
हृदय-अँधेरी-झोली इसमें ज्योति भीख देने आओ ।।
प्राणों की व्याकुल पुकार पर एक मीड़ ठहरा जाओ ।
प्रेम-वेणु की स्वर-लहरी में जीवन गीत सुना जाओ ।।

× × ×

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो ।
जीवन-धन ! इस जले जगत् को वृन्दावन बन जाने दो ।।

मधुर अतीत कितना मोहक होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं । कवि किस अधीरता से उसकी याद करता है—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ।
जब सावन घन सघन बरसते, इन आँखों की छाया भर थे ।
चित्र खींचती थीं जब चपला,
नील मेघ पट पर वह विरला ।
मेरी जीवन-स्मृति जिसमे,
खिल उठते वे रूप मधुर थे ।

---

[1] इन दोनों कविताओं को रहस्यवादी दृष्टि से भी देखा जा सकता है ।

कभी-कभी वह अपने दिवा-स्वप्नों में इतना आनन्द लेने लगता है कि वर्तमान का अभाव और शुष्कता भूल-सी जाती है। उसके हृदय की उत्कट अभिलाषा मधुर कामना का रूप ले लेती है—

अपलक जगती हो एक रात।
वक्षस्थल में जो छिपे हुए, सोते हों हृदय अभाव लिये
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

इस प्रकार के प्रणय के मधुर चित्रों और उच्छ्वासों से लेकर 'लहर' भरी है।

कवि का ध्यान केवल अतीत की ओर ही नही है, वह वर्तमान को भी नहीं भूलता, और इसीलिए अपने जीवन में प्रभात लाना चाहता है। 'प्रभात' नई आशा का प्रतीक है—

अब जागो जीवन के प्रभात!
वसुधा पर ओस बने बिखरे,
हिम-कन आँसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुण गात,
अब जागो जीवन के प्रभात।

कवि आरम्भ से ही प्रेम-पथ का पथिक था। और वहाँ वह पहुँचना चाहता था, जिसके आगे राह न हो। उसकी प्रेम की भावना 'लहर' में आकर उस गन्तव्य पर पहुँच गई है। अब उसके प्रेम में वासना की तो बात ही क्या, प्रतिदान की कोई भी भावना शेष नही है। 'लहर' का प्रेम शुद्ध प्रेम है। कवि कहता है कि प्रेम तो दिया जाता है। इसमें लेना क्या? आशय यह है कि प्रेम में जहाँ लेने की भावना हो, वह प्रेम कुछ और हो सकता है पर प्रेम नहीं—

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब।
आँसू के कन-कन से गिनकर, यह विश्व लिये है ऋण उधार।
तू क्यों फिर उठता है पुकार? मुझको न मिला रे कभी प्यार।

कवि का यह विश्व को प्रेम के सम्बन्ध में अप्रतिम सन्देश है। वह त्याग है, संग्रह नही। यदि सब प्यार देने ही लगें। किसी में लेने की या पाने की भावना न हो तो स्वर्ग विश्व पर लोटने लगे।

इतिहास के सूखे पन्नों में जीवन की सजीवता भरने मे प्रसाद जी की प्रगल्भ कल्पना कितनी पटु है, यह बात उनके नाटकों के पाठकों से कहने की

नहीं। 'लहर' की ऐतिहासिक कविताओं में भी यही बात है। 'लहर' का महत्त्व इन ऐतिहासिक कविताओं के कारण प्रणय-गीतों से कम नही है।

ऐतिहासिक कविताओं मे पहली है 'अशोक की चिन्ता', जिसकी चर्चा आगे की जायगी। दूसरी कविता है 'शेरसिंह का शास्त्र समर्पण'। इसका सम्बन्ध सन् १८४६ मे सिक्खों और अँग्रेजों के बीच होने वाले युद्ध से है, जिसमें सिक्खों का सरदार लालसिंह अँग्रेजों से मिल गया था और उसने चुपके-चुपके सिक्खों की तोपों मे काठ के गोले तथा आटे की बारूद भरवा दी थी। ऐसी परिस्थिति में परिणाम वही हुआ जो सम्भव था। सिक्ख हार गए। १८ हजार सिक्खों ने आत्म-समर्पण किया, शस्त्र-समर्पण किया। इस रचना में सिक्खों की प्रवञ्चना-पूरित पराजय की करुण कहानी है। इसमें 'शेरसिंह' कोई यथार्थतः सिक्ख सरदार था या कवि ने कल्पना कर ली है, यह कहना कठिन है। शेरसिंह शस्त्र-समर्पण कर रहा है और उसके हृदय मे तरह-तरह की भावनाएँ आ-जा रही है। कवि ने उन्हीको शब्दबद्ध किया है—

"ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर में—
अब तो लेश मात्र।
लालसिंह ! जीवित कलुष पंचनद का
देख, दिये देता हूँ
सिंहों का समूह नख दंत आज अपना।"

× × ×

विजयी पक्ष को लक्ष्य करके शेरसिंह सोचता है—

"आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है।
वीर भूमि पंचनद वीरता से रिक्त नहीं।
काठ के हों गोले जहाँ,
आटा बारूद हो,

× ×

उस युद्ध में तो मृत्यु ही विजय है।"

अन्त में कहता है—

"शेर पञ्चनद का प्रवीर रणजीतसिंह
आज मरता है देखो;
सो रहा है पंचनद आज उसी शोक मे
यह तलवार लो
ले लो यह थाती है।"

कही-कही चित्र बड़े सुन्दर है। शेरसिंह अपनी तलवार से कहता है—

"ए री रण रंगिनी !
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी।
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर
निकल चली जा तू प्रतारणा के कर से।

× × ×

आज के पराजित जो विजयी थे कल ही
इनके समरवीर-कर में तू नाचती
लप-लप करती थी जीभ जैसे यम की
उठी तू न लूट, त्रास, भय के प्रचार को,
दारुण निराशा भरी आँखों को देखकर
दृप्त अत्याचार को।"

कवि की सशक्त शैली ने इन अतुकान्त पंक्तियों मे शेरसिंह के हृदय की आग को सजीव रूप दिया है। पढ़ते-पढ़ते पाठक के हृदय में भी वही आग प्रज्वलित हो जाती है। वीर और करुण का यहाँ अपूर्व मिश्रण है।

तीसरी कविता है 'पेशोला की प्रतिध्वनि', इसमें 'पेशोला' उदयपुर की 'बिछोला' झील है। उसमे प्रताप की ललकार वीरों को उद्बोधित करती हुई प्रतिध्वनित हो रही है—

"कौन लेगा भार यह ?
कौन बिचलेगा नहीं ?
दुर्बलता इस अस्थि-मांस की—
ठोंककर लोहे से, परखकर वज्र से,
प्रलयोल्का-खण्ड के निकष पर कसकर
चूर्ण अस्थि पुञ्ज-सा हँसेगा अट्टहास कौन ?"

यह कविता भी वीरता के भावों से ओत-प्रोत है। कवि ने इतिहास

के बहाने अपने काल के नवयुवकों को देश पर मर मिटने के लिए जैसे जगाया है।

अन्तिम ऐतिहासिक कविता हैं 'प्रलय की छाया', इसमें शृङ्गार प्रधान है, पर साथ ही यौवन, रूप, वासना, आत्म-ग्लानि आदि को लेकर नारी-हृदय मे उठने वाले संघर्ष और उसके घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया तथा उनके मन की चंचलता एवं बाहरी शान-शौकत पर आकर्षित होने आदि का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। तत्त्वत: इसमे ऐतिहासिकता का थोड़ा-सा आधार मात्र है। उसके सहारे कवि का ध्येय नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही जान पड़ता है। अलाउद्दीन ने गुजरात पर चढ़ाई की थी और विजयी होकर वहाँ की सुप्रसिद्ध सुन्दरी रानी कमलावती को पत्नी रूप मे ग्रहण किया था। कमला ने पद्मिनी की भाँति जौहर नही किया। यह सोचकर उसे आत्म-ग्लानि होती है। इसी प्रसंग में अपने विगत जीवन की और बातें भी उसे याद आती है। इन्ही बातों का इस रचना में वर्णन है।

कुछ खण्ड देखे जा सकते है। अपने अपूर्व सौन्दर्य और यौवन की उसे याद आती है—

पागल हुई मै अपने ही मृदु गन्ध से
कस्तूरी मृग-जैसी।
पश्चिम जलधि में
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।
कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंग लता में
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।

गुर्जरेश राजा कर्ण उस पर प्राण देते थे—

गुर्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के;
तिरते थे—
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में।
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन-सरोज का।

उसने सोचा था कि मै पद्मिनी की भाँति जलूँगी नहीं, बल्कि सुल्तान को जलाऊँगी—

पद्मिनी जली थी स्वयं, किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुल्तान जले।

कभी कुछ चाहती और सोचती और कभी कुछ—

कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का,
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षण-भर चाहती जागना मैं
सुलतान ही के उस निर्मम हृदय में,
नारी मैं!
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की!

पति ने मरने का सन्देश भेजा, पर वह मरती कैसे? भारतेश्वरी का पद उसे लेना था—

रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की,
वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पद लेने को,
वह आत्म-हत्या न कर सकी।

भावों की सहजातता, भावानुकूल अभिव्यक्ति, अलंकारों के सुन्दर और अत्यन्त सार्थक प्रयोग तथा आवेगपूर्ण प्रवाह आदि सभी दृष्टियों से यह रचना बड़ी प्रौढ़ है।

कलिंग की प्रसिद्ध विजय के बाद, वहाँ का भीषण नर-संहार देखकर अशोक के मन में बड़ी विरक्ति हुई थी। अपने एक शिला-लेख में भी उसने इस बात का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध है कि इसी के बाद वह बौद्ध हो गया। विजय के बाद उसके मन में कैसे विरक्तिपूर्ण विचार आए हैं, 'अशोक की चिन्ता' कविता में उन्हींका चित्रण है। कवि की उर्वरा कल्पना ने अशोक के अन्तर्मन का सुन्दर उद्घाटन किया है। यह कविता बौद्ध-दर्शन से पूर्णरूपेण प्रभावित है और इसमें जीवन की क्षण-भंगुरता तथा संसार के दुःखपूर्ण होने का चित्र है। अशोक सोचता है कि यह नर-संहार तो बड़ा बुरा है। यह कैसी जीत? यथार्थतः जीत तो मानव-मन की होनी चाहिए। यह घटाटोप दो दिन का है। यहाँ जयमाला सूख जाती है और मुकुट गिर जाते है। केवल नश्वरता का गीत ही अक्षय है। वैभव भी क्षणिक है।

इस नील विषाद गगन में
सुख चपला-सा दुख घन में

अर्थात् सुख क्षणिक और दुख उसकी तुलना मे स्थायी है।

भुनती वसुधा तपते नग
दुखिया है सारा अग जग
कण्टक मिलते है प्रति पग
जलती सिकता का यह मग
बह जा बन करुणा की तरंग।

उसे चारों ओर दु:ख-ही-दु:ख दीखता है। करुणा का वह स्वागत करता है। वास्तव मे लगता है कि इस काल मे प्रसाद जी पर बौद्ध-दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उसीके फलस्वरूप यह कविता लिखी गई थी। पर यह इस संग्रह की इस प्रकार की अकेली कविता नही है। **'अरी वरुणा की शान्त कछार'** तथा **'उस दिन जब जीवन के पथ मे'** भी बौद्ध प्रभाव से उद्भूत है। कवि **'अरी वरुणा की…'** में—

छोड़ कर जीवन के अतिवाद मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार॥

"अतिवाद' छोड़कर मध्य पथ अपनाने और दु:ख के नाश का प्रसिद्ध बौद्ध-सिद्धान्त का उल्लेख है।'

इस प्रकार बौद्ध-प्रभावित कविताओ में अहिंसा, विरक्ति, दया, विश्व की क्षणभंगुरता, मध्यम मार्ग का ग्रहण आदि बौद्ध मान्यताओं को प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली है। साथ ही कवि करुणा के द्वारा मानव-कल्याण की कामना करता है।

'लहर' की **'बीती विभावरी जाग री'** तथा **'मधुर माधवी संध्या में'** आदि कुछ कविताओं में प्रकृति-चित्रण भी है। विशेषत: 'बीती विभावरी' वाला प्रभात का चित्र तो उनकी श्री-सम्पन्न कल्पना तथा सूक्ष्म अंतर्निवेशिनी अंतर्दृष्टि के कारण बहुत ही सुन्दर है। इस प्रकृति-चित्रण की विशेषता यह है कि ये शुद्ध प्रकृति के चित्रण न होकर प्रसाद के मादक विलास, उनकी प्रेम-भावना तथा कहीं-कहीं रहस्यात्मकता के भी चित्र हैं। प्रसाद मूलत: प्रकृति के कवि नहीं है। केवल प्रकृति-चित्रण के लिए उन्होंने बहुत कम कविताएँ लिखी है। **'हे सागर संगम अरुण नील'** कविता भी प्रकृति से ही सम्बद्ध है। कवि को इसकी प्रेरणा समुद्र-तट पर मिली थी। पर यहाँ कवि की रहस्य-भावना भी मुखर हो उठी है। **'कोमल कुसुमों की मधुर रात'** में एक रात का चित्र सुन्दर है, पर उसमें मानव-भावनाएँ प्रधान हो उठी है। कहीं कलियाँ चुप चुप बात कर रही हैं तो कहीं नक्षत्र हँस र

पीछे कहा जा चुका है कि 'लहर' की कुछ कविताओं में रहस्यवादी संकेत भी हैं। इनमें कुछ कविताएँ तो प्रणय-गीत है और कुछ प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य आलोचकों के अनुसार 'लहर' की ४-५ कविताएँ (जैसे **'हे सागर संगम अरुण नील'** या **'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे'**) पूर्णत: रहस्यवादी है तथा अन्य में यत्र-तत्र रहस्यवाद का ईषत् स्पर्श है। मुझे लगता है कि 'लहर' की किसी भी कविता को केवल रहस्यवादी मानना कठिन है। उपर्युक्त दोनों कविताओ में 'सागर संगम' वाली कविता प्रकृति के चित्रण से सम्बद्ध है, पर उसमे रहस्यवाद के भी स्पष्ट स्पर्श हैं। आत्मा-परमात्मा के मिलन का संकेत है। नदी पथ की सारी कठिनाइयाँ पार करके समुद्र से मिलकर अपनी ससीमता (सापेक्ष्य) खोना चाहती है। (**आकुल अकूल बनने आती**) उन दोनों का कभी का परिचय नहीं है (**हिमशैल बालिका को तूने कब देखा**) फिर भी प्रेम से दोनों सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार दूसरी कविता तो केवल अन्तिम चार पंक्तियों के कारण रहस्यवादी प्रकाश से सुरभित हो जाती है, अन्यथा प्रेमी-प्रेमिका की आँख-मिचौनी है। हर पंक्ति का रहस्यवादी अर्थ लगा भी नहीं सकता। **'मेरी आँखों की पुतली में, तू बनकर प्राण समा जा रे'** कविता भी रहस्य और लौकिक दोनों ही ओर झाँकती-सी दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार 'लहर' में रहस्यात्मकता है, पर उसका प्राधान्य नहीं है। अन्य भावों या विषयों से सम्बद्ध कविताओं में उसका सुन्दर स्पर्श-मात्र है। निराला की 'तुम और मैं' कविता से यदि इन कविताओं की तुलना की जाय तो बात स्पष्ट हो जायगी।

'लहर' की एक बड़ी प्रसिद्ध रचना है **'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे'** कुछ लोगों के अनुसार तो यह रहस्यवादी कविता है और कवि अपने नाविक (मन या गुरु) से ब्रह्म तक पहुँचाने को कहता है। पर, कुछ लोगों के अनुसार यह पलायनवादी कविता है। कवि इस संसार के कटु सत्यों से परेशान होकर इसे छोड़कर भागना चाहता है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसी ध्वनि कविता से निकलती है। **'छोटी-सी कुटिया में रच दूँ नयी व्यथा साथिन को'** या करुणा, दुःख से सम्बन्धित अधिक लिखना भी इसी बात का प्रमाण कहा जाता है कि वे दुखी, निराश हैं और उनका स्वर पलायनवादी है।

वस्तुत: किसी एक कविता या दो-चार पंक्तियों के आधार पर किसी कवि का मूल्यांकन उचित नहीं कहा जा सकता। जिस प्रसाद ने आनन्दवादी दृष्टिकोण अपनाकर सुख-दुःख, विरह-मिलन, हृदय-मस्तिष्क के समन्वय द्वारा

स्वस्थ जीवन के उपभोग का संदेश अनेक स्थलों पर दिया, उसे निराशावादी और पलायनवादी नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त कविता को दो संदर्भों में देखा जा सकता है। या तो उनके किसी विशेष क्षण की वह रचना हो जब किसी कारणवश वे संसार से ऊबे हुए हों। यदि ऐसा ठीक है तो एक क्षण के भाव को पूरी दृष्टि पर लादना गलत ही होगा। या फिर कवि इस कविता में अपने मस्तिष्क के आदर्श संसार का चित्र खींच रहा है जिसमें सुख और शांति का साम्राज्य हो। जहाँ तक दुःख और करुणा आदि का प्रश्न है कवि बौद्ध सिद्धान्तों एवं युग की निराशा से प्रभावित है। पीछे कहा जा चुका है कि कवि ने संसार की क्षणभंगुरता, सुख की कमी और दुःख का आधिक्य आदि बातें तो बौद्धों से लीं, पर उनका निराश और पलायनवादी होकर संन्यासी हो जाने का दृष्टिकोण कभी नहीं अपनाया। उनके पूरे साहित्य में इसकी छाया भी नही मिलेगी।

कला की दृष्टि से भी 'लहर' बहुत सफल रचना है। भाषा, अलंकार, विधान, शैली सभी भावों के उपयुक्त है। इसकी कुछ पंक्तियाँ—

लहर के लिए—उठ उठ गिर गिर फिर आती।

या

खग कूल कुल कुल-सा बोल रहा।

बड़ी ही ध्वन्यात्मक है। प्रथम उदाहरण में लघु-मात्राओं के प्रयोग के कारण लहरों के लहराने का चित्र बहुत ही मूर्त्त हो उठा है। गीति-काव्य की दृष्टि से भी 'लहर' अनिन्द्य है। आत्माभिव्यक्ति, तीव्रता, संगीतात्मकता तथा भावानुकूल भाषा आदि का इसमें सुन्दर समन्वय है।

१०

कामायनी

न केवल प्रसाद की, और न केवल आधुनिक साहित्य की, अपितु कुछ दृष्टियों से पूरे हिन्दी साहित्य की प्रौढ़तम कृति 'कामायनी' का प्रकाशन १९३५ में हुआ। इसके तब से कई संस्करण निकल चुके हैं। दूसरे संस्करण में, कुछ थोड़े परिवर्तन भी कवि ने किये थे। प्रसाद की सारी साधना और चिन्तना का यह निचोड़ उनके साहित्यिक जीवन का समाहार है, नाटक के भरत-वाक्य-सा। भावोच्छ्वास और चिन्तन का यह अपूर्व समन्वय विश्व-साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है।

कथानक

हिन्दी के परम्परागत महाकाव्य या अन्य भाषाओं के महाकाव्य भी प्रमुखतः वर्णन-प्रधान रहे हैं, पर 'कामायनी' ने इस दृष्टि से अपना पथ अलग बनाया है। उसमें मानव-मनोवेगों के विश्लेषण और सांकेतिकता पर बल है। इसीलिए महाकाव्य होते हुए भी इसे किसी लम्बे-चौड़े कथानक की आवश्यकता नहीं पड़ी। पात्र भी कुल गिने-गिनाए छः हैं। कथानक की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है—

देवताओं के निर्बाध विलास के कारण खण्डप्रलय हो चुकी है। सम्पूर्ण देवसृष्टि नष्ट हो चुकी है। केवल मनु शेष हैं। किसी महा मत्स्य का एक चपेटा खाकर उनकी नौका उत्तर गिरि से आ टकराती है और वे इसी स्थान पर उतर पड़ते हैं। वहीं बैठे मनु देवों के अतीत वैभव, प्रलय की भयानक विभीषिका तथा जीवन की नश्वरता आदि का ध्यान करके चिन्ता में लीन हैं। धीरे-धीरे पानी सूख रहा है, प्रलय-निशा का अन्त हो रहा है और सुनहरा प्रभात झाँक रहा है। (चिन्ता सर्ग)।

प्रभात नई आशा लेकर आता है। प्रकृति धीरे-धीरे फिर से मुस्कराने लगती है। यह देखकर चिन्ताग्रस्त मनु मे भी नई आशा का संचार होता है। वे स्वस्थ चित्त होकर एक पर्वत-गुफा में अपना निवास बनाते है। शालियाँ चुनकर पाक यज्ञ करते हैं तथा यह सोचकर कि शायद कोई और भी प्रलय की ज्वाला से बचा हो अवशिष्ट अग्निहोत्र कुछ दूर पर रख आते है। एकान्त जीवन उनको खलता है। (आशा सर्ग)।

काम-गोत्रजा श्रद्धा कभी उधर आती है और मनु के रखे अवशिष्ट अग्निहोत्र से वह अनुमान लगाती है कि इधर कोई व्यक्ति है। आगे बढ़ने पर वह मनु को पाती है। मनु का पौरुष उसे आकर्षित करता है और उसका सौन्दर्य मनु को। एक-दूसरे को जानने का प्रयास होता है। प्रलय की छाया से मनु अब भी विपन्न है। श्रद्धा उन्हे जीवन की सार्थकता बताकर कर्म मे लीन होने और जीवन-पथ पर आगे बढने को उत्साहित करती है। उसके प्रेम और ममता का सहारा पाकर मनु की विरक्ति कुछ दूर होती है। (श्रद्धा सर्ग)।

श्रद्धा के आगमन से मनु के एकान्त जीवन की विरसता समाप्त होती है। जीवन के प्रति एक नवीन आकर्षण का उदय होता है। धीरे-धीरे अनजाने ही उनके हृदय में काम का स्फुरण होता है। प्रकृति का मोहक रूप उसे और भी दीप्त करता है। (काम सर्ग)।

श्रद्धा और मनु और भी निकट होते जाते है और अन्त मे दोनों एक-दूसरे पर अत्यधिक आकर्षित होकर एक-दूसरे को समर्पण करते है और वासना का भाव जगता है। (वासना सर्ग)।

वासना आने पर नारी में लज्जा का आना स्वाभाविक है। श्रद्धा के हृदय में लज्जा का भाव जगता है। नारीत्व पूर्णरूपेण उभर आता है। लज्जा नारी का सबसे बड़ा नियन्त्रण है। यहाँ लज्जा और श्रद्धा में बातचीत के माध्यम से नारी का आदर्श, उसके जीवन का उद्देश्य आदि बातें बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई हैं। (लज्जा सर्ग)।

प्रलय का दारुण दृश्य मनु को विस्मृत हो गया है। श्रद्धा ने उनके जीवन में आकर एक नवल और मादक आकर्षण पैदा कर दिया है। वे कर्म की ओर झुकते हैं। सोम-पान की इच्छा भी उनके मन में जगती है। मनु की भाँति ही प्रलय में दो असुर पुरोहित 'किलात' और 'आकुलि' बच रहे थे। ये जब श्रद्धा द्वारा पालित स्वस्थ-सुन्दर पशुओं को देखते हैं तो इनकी आमिष-लोलुप रसना उन्हें खाने को ललच उठती है। दोनों आपस में परा-

मर्श करके 'मनु' के पास पहुँचते है और उन्हें यज्ञ करने को उत्साहित करते हैं, साथ ही स्वयं पुरोहित बनने को तैयार हो जाते हैं। मनु यज्ञ करते है और उसमे उन पशुओं की बलि देते है। आग धधक रही है। चारों ओर खून के छीटे पडे है। हड्डियाँ बिखरी है। श्रद्धा को यह वीभत्स और भयंकर दृश्य बहुत बुरा लगता है। वह रूठी हुई अलग रहती है। उधर मनु सोमपान और पुरोडास ग्रहण करके मस्त हो उठते है और उनकी वासना भी प्रदीप्त हो उठती है। वे स्वयं श्रद्धा (कामायनी) के पास पहुँचते है। श्रद्धा रुष्ट है, पर मनु के लिए उसके हृदय में अतुलित प्रेम भी है। वह उनके स्पर्श मे रोमाञ्चित हो उठती है। उनके किये के लिए मीठे शब्दों मे फटकारती है, पर फिर मनु के द्वारा अनुनय-विनय करने पर वह भी सोम-पान करती है और फिर दोनों एक हो जाते हैं। (कर्म सर्ग)।

श्रद्धा गर्भवती हो चुकी है। वह गृहस्थी जुटाने में लगी है। शालियाँ एकत्र करती है, दिन-भर तकली चलाती है। उसने एक कुटीर का भी निर्माण कर लिया है। मनु को यह सब बुरा लगता है। वे श्रद्धा पर एकाधिकार चाहते है। वे चाहते है कि वह केवल उनकी सेवा में रहे। भावी सन्तान के प्रति उनके मन में ईर्ष्या जगती है, क्योंकि श्रद्धा का प्रेम उसके आने के कारण बँटने वाला है। अन्त मे डाँटते-फटकारते वे वहाँ से चल देते हैं। श्रद्धा **'रुक जा सुन ले ओ निर्मोही'** कहती रह जाती है। (ईर्ष्या सर्ग)।

श्रद्धा को छोड़कर आने के बाद मनु इधर-उधर लक्ष्यहीन घूमते है। घूमते-घूमते वे उजड़े हुए सारस्वत नगर में पहुँचते है। वहाँ उन्हे 'इड़ा' नाम की सुन्दरी मिलती है और इन्हें दुखी देखकर वह इनका स्वागत करती है। उसके कहने से एक प्रबन्धक रूप में मनु उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश की उन्नति में जी-जान से जुट जाते है। 'इड़ा' श्रद्धा-सी श्रद्धामय नारी नहीं है। वह बुद्धिमय है। कवि ने यहाँ उसका जो रूप चित्रित किया है वह भी बुद्धि के अनुरूप ही है। (इड़ा सर्ग)।

मनु के चले आने के बाद श्रद्धा का बहुत ही दुखी होना स्वाभाविक था। जिसके चरणों पर उसने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, वह उसे छोड़कर चला गया था। इसी दुःख और निराशा की घड़ियों में वह माँ बनी। उसका पुत्र मानव धीरे-धीरे कुछ बड़ा हुआ। दूध का जला छाछ को फूँक-फूँककर पीता है। कामायनी मानव को जरा भी रोकती-टोकती नहीं, कि कहीं वह भी रुष्ट होकर न चला जाय। एक दिन 'कामायनी ने एक स्वप्न देखा—

"मनु का सुन्दर नगर बसा हुआ है। उनके निर्देशन में वहाँ के लोगों ने

खूब भौतिक उन्नति की है। मनु सिंहासनारूढ़ हैं। कोई सुन्दरी (इड़ा) उन्हें मदिरा-पान करा रही है। मनु तृप्त नहीं हो रहे हैं। वे कहते हैं कि मेरा हृदय अब भी सूना है। वे इड़ा को अपनी प्रणयिनी बनाने का संकेत करते हैं। इड़ा को आश्चर्य होता है। वह कहती है—मै आपकी प्रजा हूँ। मुझसे ऐसी बाते क्यों ? मनु कहते हैं—'**तुम प्रजा नहीं मेरी रानी हो, मेरा प्रणय स्वीकार करो**'। यह कहते-कहते मनु वासना से उत्तेजित होकर इड़ा का आलिंगन करते हैं और वह भय से काँपकर अपनी रक्षा के लिए पुकार करती है। भयंकर गर्जन से दिशाएँ गूँज उठती है। भूडोल-सा आ जाता है। शंकर का तीसरा नेत्र खुलता है और वे तांडव करने लगते है। प्रजा एकत्र हो आती है। इड़ा क्रोध और लज्जा में आवेष्टित बाहर निकल आती है और मनु प्रहरियों को द्वार बन्द करने की आज्ञा देकर सोने चले जाते हैं।"

कामायनी स्वप्न की विकरालता से काँप उठी। उसकी आँखें खुल गईं। (स्वप्न सर्ग)।

कामायनी का स्वप्न सचमुच सत्य था। सारस्वत प्रदेश में यही हुआ। अत्यधिक बौद्धिक होने पर व्यक्ति का पतन ही होता है। मनु के साथ भी यही बात हुई। वे इड़ा को, जो प्रजा थी और प्रजा राजा की पुत्री के समान हैं, पत्नी बनाने पर तुल बैठे। इस पर प्रजा बिगड़ खड़ी हुई। मनु के महल का सिंह-द्वार तोड़ दिया गया। प्रजा भीतर आ गई। मनु ने कहा कि मैंने तुम्हें सुख-समृद्धि दी है। इस पर प्रजा बोली कि सुख-समृद्धि क्या दी है, हमें मशीनों का दास बना दिया है और बौद्धिकता का प्राधान्य देकर संचय की प्रवृत्ति जागृत कर दी है, हम लोभी हो गए हैं। इस प्रकार विवाद बढा और दोनों में संघर्ष हुआ। एक ओर थे मनु और दूसरी ओर पूरी प्रजा, जिसके नेता वही किलात और आकुलि (असुर पुरोहित) थे। मनु ने भयंकर आग्नेयास्त्रों से उन दोनों को मार डाला, पर अन्त में वे स्वयं भी इस संघर्ष में घायल होकर गिर पड़े। इस सर्ग में आज की भौतिक उन्नति और उसके दुष्परिणामों का उल्लेख है। (संघर्ष सर्ग)।

मनु के गिरने के बाद युद्ध बन्द हो गया, पर पूरे नगर पर जैसे दुःख, क्षुब्धता और मलिनता की छाया छा गई थी। इड़ा की विचित्र स्थिति थी। वह अन्तर्द्वन्द्व की आग में जल रही थी। मनु ने उसके साथ अत्याचार किया था, इसलिए वह उनसे घृणा कर रही थी। पर उसी मनु की सहायता से उसका उजड़ा सारस्वत प्रदेश धन-धान्य और भौतिक उन्नति से परिपूर्ण बना था, यह सोचकर मनु के प्रति उसके हृदय में ममता उमड़ती थी और वह उन्हें क्षमा

कर देना चाहती थी। यह सब सोचते-सोचते वह मनु को अच्छा-बुरा दोनो ही पा रही थी। उसने निष्कर्ष निकाला कि विश्व मे अच्छे-बुरे दोनो है। दोनों ही स्वीकार्य है। इड़ा इसी उधेड़-बुन मे थी कि अपने पुत्र कुमार (मानव) को लिये कामायनी अपने प्रियतम मनु को खोजते-खोजते वहाँ आ पहुँची। उसकी करुण अवस्था को देखकर इडा द्रवित हुए बिना न रह सकी : इतने मे पास ही कामायनी ने मनु को घायल और बेहोशी की हालत मे देखा। उसका स्वप्न सच निकला। वह बोली—'आह ! प्राण प्रिय यह क्या ?' उसकी आँखे गीली हो गईं। इड़ा यह देखकर चकित थी। श्रद्धा मनु के पास जाकर उन्हे सहलाने लगी। मनु की मूर्छा दूर हुई। कामायनी को देखकर वे रोने लगे। श्रद्धा के बतलाने पर मानव ने अपने पिता को पहचाना। मनु वहाँ से दूर जाना चाहते थे पर श्रद्धा ने स्वस्थ होने तक वहाँ रुकना आवश्यक समझा। मनु रुके तो, पर वहाँ से उन्हें घृणा हो रही थी। यह बात उनकी समझ मे आ चुकी थी कि श्रद्धा को छोड़कर उन्होने अपने जीवन की सबसे बड़ी भूल की थी। एक रात को सभी लोग सो रहे थे। मनु सोच-विचार में लीन थे। उन्हे पूरा विश्व दुःख-मय दिखाई दे रहा था। निर्वेद के भाव से भरते जा रहे थे। अन्त मे वहाँ से भाग जाने में ही उन्होंने अपना कल्याण समझा। प्रातः लोग उठे तो मनु गायब थे। मानव 'पिता कहाँ' कहकर उन्हें व्यग्र होकर खोजने लगा। श्रद्धा दुखों मे उलझ गई। इड़ा इन सारे अनर्थों के लिए अपने को दोषी समझकर ग्लानि में डूब रही थी। (निर्वेद सर्ग)।

श्रद्धा बहुत दुखी थी। उसे देखकर मानव भी बहुत उद्विग्न था। इड़ा ने श्रद्धा से क्षमा माँगी। उसने अपने प्रदेश में फैले संघर्ष, गर्व, बौद्धकता आदि के लिए भी अपने-आपको दोषी बतलाया। श्रद्धा बोली, '**तू सिर चढ़ी रही, तूने हृदय न पाया।**' अपने-अपने व्यक्तिवादी रास्ते पर चलकर ही यहाँ के सब लोग भ्रमित हुए। '**तूने सरल राह छोड़ दी।**' उसका संकेत यह था कि बुद्धि ही सब-कुछ नहीं, स्वस्थ जीवन के लिए हृदय भी आवश्यक है। अन्त में श्रद्धा ने मानव को इड़ा के हाथ में सौंप दिया और मनु को खोजने के लिए निकल पडी। जाते समय उसने मानव को सन्देश दिया जो प्रसादजी का विश्व को सन्देश है—

हे सौम्य इड़ा का शुचि दुलार। हर लेगा तेरा व्यथा-भार।
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय। तू मननशील कर कर्म अभय।
इसका तू सब सन्ताप निचय। हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सबकी समरसता का प्रचार। मेरे सुत सुन माँ की पुकार।

अर्थात् श्रद्धा और तर्क या हृदय और बुद्धि के सामंजस्य से ही मन ठीक पथ पर जा सकता है और मनुष्य का भाग्योदय हो सकता है।

खोजते-खोजते श्रद्धा ने मनु को एक गुफा मे पा लिया। मनु ने जब सुना कि सारस्वत प्रदेश के शासन के लिए श्रद्धा मानव को इड़ा के हाथ सौंप आई है तो वे कुछ दुखी हुए, पर श्रद्धा ने कहा कि देने से कोई भिखारी नही बनता। कुमार को देकर मैंने तुम्हारी कालिमा धो दी। मनु यह सुनकर श्रद्धा की महानता पर मन्त्रमुग्ध हो गए। श्रद्धा के यथार्थ रूप को उन्होंने देखा और उनकी ज्ञान की आँखें खुली। एक विचित्र प्रकाश उन्हें दिखाई पड़ा और नृत्यलीन नरेश के उन्हें दर्शन हुए। मनु बेसुध होकर पुकार उठे—

यह क्या श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल,
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल
मिटते असत्य के ज्ञान लेश।
समरस अखण्ड आनन्द वेश। **(दर्शन सर्ग)**

मनु की आज्ञानुसार श्रद्धा उन्हें लेकर हिमालय पर चढती है। सर्वत्र शान्ति है। श्रद्धा आगे-आगे चल रही है और मनु पीछे-पीछे। रास्ता भयानक है। मनु थककर पीछे लौटना चाहते हैं। श्रद्धा उन्हें सहारा देती है। चढ़ाई समाप्त होती है। समतल भूमि पर आकर मनु को कुछ शान्ति मिलती है। मनु को तीन अलग-अलग आलोक बिन्दु दिखाई पड़ते है। मनु आश्चर्य-चकित होकर उनका रहस्य पूछते है। श्रद्धा बतलाती है—'इस त्रिकोण के मध्य-विन्दु तुम्हीं हो। ये इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लोक है। और उनके रंग क्रमशः लाल, श्वेत और कृष्ण है। इच्छा-लोक से ही पाप-पुण्य का जन्म होता है, क्रिया-लोक में सभी कर्मो के दास है। हिंसा और हार में भी गर्व अनुभव करते है, ज्ञानलोक में व्यक्ति सुख और दुःख से उदासीन रहता है, पर यहाँ भी तृप्ति नही मिलती। तर्क यहाँ की प्रधानता है। यहाँ के जीवन में आनन्द नहीं है। ये तीनों अलग-अलग हैं यही मानव-जीवन की विडम्बना है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों हो पूरी मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें, यह विडम्बना है जीवन की।

इतना कहते-कहते श्रद्धा मुस्करा उठी और वे तीनों लोक प्रज्वलित होकर सम्बद्ध हो उठे। विश्व में डमरू की ध्वनि गूँज उठी। और—

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो, इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।
(रहस्य सर्ग)

मनु और श्रद्धा वही साधना मे लीन हो गए। कुछ दिन के बाद सारस्वत नगर के तीर्थयात्रियों का दल उस तीर्थ की यात्रा करने आया। उनमें इड़ा और मानव भी थे। उनके साथ धर्म का प्रतीक एक बैल भी था। उन लोगों ने वहाँ जाकर उस पवित्र भूमि एवं मनु तथा श्रद्धा के दर्शन किये। मनु ने लोगों को कैलाश का दर्शन कराया और बतलाया कि यहाँ सभी लोग समरस और आनन्द में मग्न हैं। यात्रियों ने भी देखा वहाँ—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।
(आनन्द सर्ग)

यह है 'कामायनी' की १५ सर्गों में विभक्त कथा।

कथा में इतिहास और कल्पना

कामायनी की कथा के अधिकांश का पौराणिक या ऐतिहासिक आधार मिल जाता है, पर साथ ही उसमें कल्पना का अंश भी है। कथा पर दृष्टि डालने पर सबसे पहली घटना जो सामने आती है, वह है 'जल-प्लावन'। भारतीय ग्रन्थों में इसका उल्लेख बहुत प्राचीन काल से मिलता है। 'ऋग्वेद' में कहा गया है कि सृष्टि के विकास के पूर्व सर्वत्र जल-ही-जल व्याप्त था। इसे जल-प्लावन का सांकेतिक उल्लेख माना जा सकता है। 'अथर्व वेद' में भी जल-प्लावन तथा मनु और उनकी नौका के बच जाने एवं हिमालय पर पहुँचने के संकेत हैं। इसका स्पष्ट और विस्तृत उल्लेख सर्वप्रथम 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलता है। इसके अनुसार एक बार सवेरे हाथ धोने के लिए पानी लेते समय एक छोटी-सी मछली मनु के हाथ में आ गई और उसने अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की। उसने मनु को प्रलय की भी सूचना दी और उससे बचने के लिए नौका बनाकर उस पर चढ़ने का आदेश दिया। मनु ने उस मछली की रक्षा की। बढते-बढते वह मछली बहुत बड़ा मत्स्य हो गई। उसके द्वारा बताए गए समय पर जल-प्लावन हुआ। मनु पहले से तैयार थे। सब लोग तो डूब गए पर वे नौका पर बैठ गए और वह मत्स्य के सीग में बाँध दी। मत्स्य ने इनकी नाव उत्तरगिरि की चोटी पर पहुँचा दी और इस प्रकार ये बच गए। आगे यह कथा जैमिनीय आदि ब्राह्मणों, पद्म, विष्णु, भागवत, स्कन्द, कालिका, वायु, अग्नि, मत्स्य तथा

भविष्य आदि पुराणों तथा महाभारत आदि बहुत-से भारतीय ग्रंथों में थोड़े-बहुत परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ मिलती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में 'जल-प्लावन' को 'ओघ' कहा गया है, पर पुराणों में 'प्रलय' या 'खण्ड प्रलय'। प्रलय तीन प्रकार की कही गई है—नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यंतिक। फिर इनके भी भेद-प्रभेद हैं। 'भागवत' आदि ग्रन्थों के अनुसार 'कामायनी' की यह प्रलय, जिस पर यहाँ विचार किया जा रहा है, ब्राह्म-नैमित्तिक थी। यह प्रलय एक कल्प (४ अरब ३२ करोड़ वर्ष) के बाद घटित होने वाली मानी गई है। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त यूनान, बेबीलोनिया तथा चीन आदि देशों के प्राचीन धार्मिक साहित्य तथा बाइबिल, कुरान और अवेस्ता आदि में भी किसी-न-किसी रूप में जल-प्लावन का उल्लेख है। बाइबिल तथा कुरान में तो भारतीय मनु की भाँति नूह का भी उल्लेख मिलता है, जिन्होंने एक किश्ती पर अपनी रक्षा की थी। इन धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त लोक-साहित्य के रूप में भी 'जल-प्लावन' की कथा एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया, अमरीका तथा अफ्रीका के बहुत-से देशों में प्रचलित है। भूगर्भ-शास्त्रियों ने पृथ्वी की निचली पर्तों के अध्ययन के आधार पर भी इस बात की पुष्टि की है। कुछ लोगों ने तो उसके काल का भी अनुमान (एक मत से १० करोड़ वर्षपूर्व) लगाया है। निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि 'कामायनी' का यह भाग कल्पित नहीं है। पर साथ ही इसे इतिहास-सम्मत कहना भी बहुत उचित नहीं है। इतिहास से केवल जल-प्लावन की पुष्टि होती है। मत्स्य की सहायता से मनु के बचने की बात का आधार पौराणिक ही कहा जायगा। यही बात जल-प्लावन के कारण के भी बारे में कही जा सकती है। 'कामायनी' के अनुसार उसका कारण देवजाति की 'निर्बाध विलासिता' थी। विभिन्न धर्मों की पौराणिक कथाओं में भी प्रायः यही कारण दिया गया है। इसे किसी ने तत्कालीन जनता का अनैतिक आचरण कहा है तो किसी ने उसका अनीश्वरवादी एवं पापाचारी होना। कहना न होगा कि जल-प्लावन हुआ भी होगा तो प्रकृतिजन्य कारणों से। उपर्युक्त बातें तो उसीकी धर्म-सम्भूत व्याख्याएँ है।

'जल-प्लावन' की घटना के बाद हमारा ध्यान मनु पर जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रलय के प्रसंग में मनु का प्रथम उल्लेख 'अथर्व वेद' में मिलता है, पर स्वतन्त्र रूप से इनका उल्लेख अपने प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में भी मिलता है। पुराणों में मनु १४ माने गए हैं (स्वायंभुव, स्वारोचिष, तामस, चाक्षुष, उत्तम तथा वैवस्वत आदि)। इनमें 'कामायनी' के मनु वैवस्वत हैं, क्योंकि आधुनिक सृष्टि के आदिपुरुष ये ही माने गए हैं। इनके भी जन्म आदि

की कथा विभिन्न पुराणों या अन्य ग्रंथों में विभिन्न प्रकार से मिलती है।

'जल-प्लावन' की समाप्ति के बाद 'कामायनी' में मनु अग्निहोत्र करते हैं। इस बात का उल्लेख भी 'शतपथ ब्राह्मण' आदि में है।

'कामायनी' में मनु के बाद 'श्रद्धा' का आगमन होता है। 'श्रद्धा' का सर्वप्रथम उल्लेख 'ऋग्वेद' में है। वहाँ श्रद्धा ऋषि है और उसका श्रद्धा-सूक्त भी है। इस सूक्त की अनुक्रमणिका में श्रद्धा को काम गोत्र में उत्पन्न कामायनी कहा गया है। अन्य ग्रंथों में श्रद्धा की कथा बहुत परिवर्तित रूपों में मिलती है। कही वे दक्ष की पुत्री हैं, तो कही सूर्य की; और कही ब्रह्मा की। प्रसाद जी ने अपनी श्रद्धा या कामायनी को उपर्युक्त उल्लेख पर ही आधारित किया है। श्रद्धा के विवाह के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कहीं ये सत्य की पत्नी मानी गई है, तो कहीं धर्म की। पर, 'शतपथ ब्राह्मण' तथा कुछ अन्य ग्रंथों में मनु के लिए 'श्रद्धादेव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कहना न होगा कि प्रसाद जी का आधार यही है।

'कामायनी' में मनु को 'मैत्रावरुण' यज्ञ की प्रेरणा आकुलि और किलात नाम के दो असुर पुरोहितों से मिलती है। इसका ठीक रूप में उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' में है। यों 'ऋग्वेद' आदि ग्रन्थों में भी असुर परोहित रूप में इन दोनों के नाम आए हैं। आगे चलकर जब सारस्वत प्रदेश की जनता मनु के विरुद्ध उठ खड़ी होती है तो आकुलि और किलात उनके नेता के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस घटना का उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है, हाँ 'ऋग्वेद' में इससे मिलती-जुलती घटना अवश्य आई है। शायद प्रसाद जी ने उसी आधार पर इसकी कल्पना की हो।

आगे चलकर श्रद्धा को 'मानव' नाम का पुत्र होता है। धार्मिक ग्रन्थों में श्रद्धा के १० पुत्र कहे गए है, पर उनमें 'मानव' ('कुमार') का नाम नही है। हाँ 'ऋग्वेद' में मनु को मानव का पिता कहा गया है, उसी आधार पर प्रसाद जी ने 'मानव' नाम के पुत्र की कल्पना की है।

सारस्वत प्रदेश, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सरस्वती नदी के किनारे का प्रदेश है। सरस्वती नदी का नाम तो प्रायः धर्म-ग्रन्थों में आया है और यह प्रयाग से लेकर अफगानिस्तान तक जगह-जगह मानी गई है, पर इस प्रदेश का नाम कहीं नहीं आया है। हाँ 'इडा वृत्त वर्ष' का नाम वायु तथा अग्नि आदि कई पुराणों में आया है। कुछ लोगों के अनुसार सम्भवतः इसीको प्रसादजी ने 'सारस्वत प्रदेश' कहा है।

मनुष्यों पर शासन करने वाली तथा कुछ अन्य रूपों में भी 'इड़ा' का

नाम 'ऋग्वेद' में कई स्थानों पर आया है। विभिन्न धर्म-ग्रन्थो में इसके जन्म या जीवनादि की कथा विभिन्न प्रकार से चित्रित है। इसे 'शतपथ ब्राह्मण' में मनु की पुत्री 'मानवी' कहा गया है। इसी आधार पर प्रसाद ने इड़ा को ठीक पुत्री तो नहीं, पर प्रजा रूप में पुत्री होने का सकेत किया है। मनु द्वारा इड़ा के साथ बलात्कार किये जाने की कथा का कही भी उल्लेख नहीं है। यों अपनी पुत्री के साथ बलात्कार के उल्लेख ब्रह्मा या प्रजापति की कथाओं के साथ प्रायः मिलते है। 'कामायनी' में मनु भी प्रजापति कहे गए है, ऐसी स्थिति मे कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने इसी आधार पर यह कल्पना कर ली। प्रजापति के अनैतिक आचरण के लिए उन्हें दण्ड दिये जाने का उल्लेख भी 'ऐतरेय ब्राह्मण' आदि कई ग्रन्थों में है, इसी आधार पर प्रसाद ने मनु का भी आहत होकर गिरना दिखाया है।

शिव-तांडव तो बहुत ही पुराण-प्रसिद्ध है। 'त्रिपुर' का उल्लेख भी 'शतपथ ब्राह्मण' तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। उनके रंग भी प्रायः वही है, जो 'कामायनी' में हैं। शिव इन लोकों (या आकाश, पाताल, मृत्यु-लोक) को नष्ट करने वाला होने के कारण ही 'त्रिपुरारि' हैं। शैवागमों में 'त्रिपुर' का रूप कुछ दूसरा ही है। वहाँ इसके इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीन कोष हैं। प्रसाद ने दोनों को मिलाकर एक नवीन रूप दे दिया है।

शिव के स्थान कैलाश का आनन्द तथा शान्तिपूर्ण होने का उल्लेख भी शैव तथा अन्य ग्रंथों में मिलता है।

बस केवल इतनी बातों के ही पौराणिक आधार है। पर जैसा कि स्थान-स्थान पर कहा गया है, आधार-मात्र हैं। पुराणाधारित घटनाओं और बातों में भी प्रसाद जी ने कल्पना के आधार पर अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये है। आरम्भ से अन्त तक की शेष सारी बातें कवि की उत्पाद्य है, जो कथा को क्रमबद्ध करने, उसे मनोरंजक साहित्यिक रूप देने एव दार्शनिक सिद्धांतों या मनोवैज्ञानिक सत्यों का विवेचन आदि करने के लिए गढ़ दी गई है। इन कल्पित बातों में उल्लेख्य मनु में पहले चिन्ता फिर प्रकृति को पुलकित देख आशा का संचार, श्रद्धा द्वारा दी गई प्रेरणा, काम-वासना और लज्जा का क्रमशः आगमन, श्रद्धा में अहिंसा तथा शुद्ध और उच्च प्रेम का भाव, गर्भिणी होने पर गृहस्थी की तैयारी, गांधीवादी तकली, मनु में ईर्ष्या का आना और श्रद्धा को छोड़कर भागना, इड़ा से मिलकर सारस्वत प्रदेश की भौतिक उन्नति करना (इस कल्पना का आधार आधुनिक युग है। कवि आधुनिक युग के भावी पतन को भी इसमें भविष्य-वाणी के रूप में बतला रहा है)। श्रद्धा का स्वप्न और

उसका सच होना, श्रद्धा का सपुत्र जाना, मनु का ग्लानि से भरकर फिर भागना श्रद्धा का मानव को इड़ा को सौंपकर मनु को खोजने फिर जाना, उनसे मिलकर उनके ज्ञान-चक्षु खोलना तथा इड़ा और मानव का पुरवासियों के साथ तीर्थाटन के लिए जाना और मनु का कैलाश-दर्शन कराना आदि है। कहना न होगा कि प्रसाद की कल्पना बड़ी उर्वरा है, जिसने इतनी अव्यवस्थित एवं भिन्न-भिन्न घटनाओं को इतनी सुन्दर कथा के रूप में जोड़ दिया है, जिससे साहित्य, मनोविज्ञान और जीवन-दर्शन का एक अपूर्व समन्वित रूप सामने आ जाता है।

'कामायनी' में रूपकता

'रूपक' शब्द का प्रयोग साहित्य-शास्त्र में कई अर्थों में होता है। 'कामायनी' के प्रसंग में इसका अर्थ उस कथा से है, जिसके दो अर्थ हों। दूसरे शब्दों में रूपक वह 'द्वि-अर्थक कथा है जिसमें किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ अथवा ध्वन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप' हो (डॉ० नगेन्द्र) अर्थात् कथा मे आद्यन्त स्पष्ट और सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक और भी सांकेतिक अर्थ हो। कामायनीकार ने स्वयं इस सम्बन्ध में संकेत दिये है। 'कामायनी' के आमुख में वे लिखते है—"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"

इस प्रकार 'कामायनी' में रूपक-तत्त्व का होना जब स्वयं रचयिता को मान्य है तो सन्देह के लिए कोई अवकाश नही रह जाता।

कथा पर विचार करने पर सर्वप्रथम हमारे सामने 'देव' आते हैं, जिनकी सीमाहीन विलासिता के कारण जल-प्लावन हुआ। देवों को इन्द्रियों का प्रतीक कहा जा सकता है। निर्बाध आत्मतुष्टि के कारण इन्द्रियों का पतन स्वाभाविक है। 'जल-प्लावन' का तो हमारे धर्म-ग्रन्थों में भी सांकेतिक या प्रतीकात्मक प्रयोग है। 'कामायनी' में इसका प्रतीकात्मक अर्थ है, मन, मनुष्य या चेतना का सासारिकता के जल में पूर्णतः डूब जाना। 'कामायनी' मे जल-प्लावन के प्रसंग में जो वर्णन है उसमे अव्यवस्था का भी चित्र है। अतएव इस अर्थ के साथ मानसिक अव्यवस्था को भी जिसमें अनुचित-उचित का ज्ञान न रह जाय, जोड़ा जा सकता है।

मनु को तो प्रसादजी ने स्वयं उपर्युत उद्धरण में 'मन' का प्रतीक

कहा है। 'मन' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'जिसके द्वारा मनन किया जाय'। इसका प्रमुख लक्षण 'अहंकार' माना गया है। 'कामायनी' में भी यह ध्वनि है—

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों, लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ' शाश्वत नभ के गानों में॥

यहाँ 'मैं हूँ' या 'मैं रहूँ' अहंकार के ही भाव को व्यक्त करते हैं। 'श्रद्धा' को भी प्रसाद ने स्वयं ही हृदय का प्रतीक कहा है। 'कामायनी' में भी आया है—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया उन्मुक्त।

उसके व्यक्तित्व में दिखाई गई दया, ममता, क्षमा, विश्वास तथा मधुरिमा आदि का भी हृदय से ही सम्बन्ध है।

कथा के आगे बढ़ने पर श्रद्धा के पशु मिलते है। इन्हें 'करुणा' और 'दया'-जैसे भावों का प्रतीक माना जा सकता है। श्रद्धा इनका पालन-पोषण करती है। हृदय ही इस प्रकार के भावों को पल्लवित-पुष्पित कर सकता है। इन पशुओं की हिंसा की ताक में आकुलि और किलात (असुर पुरोहित) हैं। ये स्पष्ट ही मनुष्य की आसुरी वृत्तियों के प्रतीक है। आसुरी वृत्तियाँ ही 'करुणा', 'दया'-जैसे उच्च मानवी भावों की हत्या करती हैं।

मनु 'श्रद्धा' को छोड़कर जाते हैं तो उन्हें इड़ा मिलती है। 'इड़ा' प्रसाद के ही शब्दों में बुद्धि की प्रतीक है। उसके रूप-वर्णन मे भी इसके संकेत हैं—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

श्रद्धा ने भी 'दर्शन' सर्ग में उससे कहा है—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय

श्रद्धा का पुत्र 'कुमार' या मानव है। यह नूतन मानव का प्रतीक है। मनु का पुत्र है अतः मननशील है। श्रद्धा इसकी माता है, अतः इसमें हृदय भी है। अन्त में श्रद्धा इसे इड़ा के साथ छोड़ देती है, जिसका संकेत 'बुद्धि' के साथ कर देने का है। आशय यह है कि मानव अपनी पूर्णता की प्राप्ति इन तीनों के सामंजस्य से ही कर सकता है।

श्रद्धा और मनु के पर्वत के ऊपर जाने पर तीन लोक दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें कवि ने स्पष्ट ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया लोक कहा है, अतएव ये इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। कवि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जब तक ये तीनों अलग-अलग हैं, अर्थात् मनुष्य की इच्छाएँ कहीं है, ज्ञान कहीं है और कर्म कहीं, वह असफल और दुखी रहता है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों हो पूरी मन की ।
एक दूसरे से न मिल सकें, यह विडम्बना है जीवन की ।।

कहना न होगा कि इन तीनों का उन तीनों से भी सम्बन्ध है, जिनके सामंजस्य से मानव पूर्ण बन सकता है, अर्थात् मनु या मन का कर्म से, श्रद्धा या हृदय का इच्छा (भाव) से और इड़ा या बुद्धि का ज्ञान से ।

अन्तिम सर्ग में इड़ा तथा कुमार आदि तीर्थ करने जाते है तो उनके साथ एक बैल है । उसके सम्बन्ध में कहा गया है—

इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को, उत्सर्ग करेंगे जाकर ।

या

था सोमलता से आवृत वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि ।

अतः बैल धर्म का प्रतिनिधि है । उसे ढकने वाली सोम लता 'भोग' है । वहाँ ले जाकर लोग इसका उत्सर्ग करेंगे । अर्थात् 'भोग' मे लिपटे धर्म का उत्सर्ग करके ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है ।

कुछ और भी छोटी-मोटी चीजें है । जैसे, पर्वत की कठिन ऊँचाई पर चढ़ने पर ही मनु को रहस्य की प्राप्ति होती है । यह कठिन ऊँचाई भी सांकेतिक है । श्रद्धा के साथ मनुष्य सांसारिक प्रलोभनों से हटकर पवित्र जीवन की ऊँचाई पर चढ़े; जिस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन है—

कहाँ ले चली हो अब मुझको, श्रद्धे ! मै थक चला अधिक हूँ ।
साहस छूट गया है मेरा, निस्सम्बल भग्नाश पथिक हूँ ।।

या

दोनों पथिक चले है कब से ऊँचे-ऊँचे चढ़ते ।

या

छूने को अम्बर मचली-सी, बढ़ी जा रही सतत उँचाई ।
विक्षत उसके अंग, प्रकट थे, भीषण खड्ड भयंकर खाई ।।

तो उसे जीवन का यथार्थ रहस्य मिलता है ।

अन्त में जिस कैलाश का उल्लेख है, उसे समरसता तथा उससे सम्बद्ध उच्च भावों का प्रतीक माना जा सकता है । मनु कहते हैं—

शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है ।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है ।।

ऐसे स्थान पर ही शिव रहते हैं । अर्थात् इस भावभूमि की प्राप्ति के बाद मनुष्य पूर्ण हो जाता है । अद्वैत की यथार्थ अनुभूति की उसे प्राप्ति होती है—

सबकी सेवा न पराई, वह अपनी सुख संसृति है।
अपना ही अणु-अणु कण-कण, द्वयता ही तो विस्मृति है ॥

इस प्रकार प्रतीकात्मक कथा संक्षेप में हुई—

अबाध सन्तुष्टि से इन्द्रियाँ सांसारिकता के पंक में डूब जाती है। पतन के बाद मन को कुछ होश आता है, फिर हृदय (श्रद्धा) के संयोग से उसमे उत्साह, विश्वास आदि आता है, पर उसकी आसुरी वृत्तियाँ उसे फिर गिराने की ताक में रहती हैं। यदि उनके सामने वह झुका तो अन्ततः हृदय के उच्च-भावों के मूल्य को वह पहचान नहीं पाता और उन्हे छोड़कर बुद्धि का सहारा लेता है। यहाँ उसका और भी पतन होता है और जिन आसुरी भावों ने उसको पतित बनने मे प्रोत्साहित किया था, वे उसके सर्वनाश के लिए प्रस्तुत होकर आते हैं। वह बहुत दुःखी होता है, पर हृदय के उच्चभाव फिर उसकी सहायता करते हैं और अन्त में आसुरी प्रवृत्तियों एवं सांसारिकता में लिप्त बुद्धि आदि से दूर हटकर हृदय (श्रद्धा) के सहारे वह जीवन के यथार्थ रहस्य को समझता है और समरसता की उच्च-भावभूमि पर पहुँचकर आनन्द की प्राप्ति करता है। साथ ही जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कवि कुमार के रूप में यह भी कहना चाहता है कि मननशीलता हृदय और बुद्धि के सामञ्जस्य से मनुष्य पूर्ण हो सकता है। अर्थात् प्रसाद की दृष्टि से कुमार पूर्ण और आदर्श मानव है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि प्रसादजी ने भारतीय दृष्टिकोण से आज के सन्तप्त मानव के लिए इस रूप में रामबाण औषधि प्रदान की है। आज का मनोविज्ञान भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचता दिखाई पड़ रहा है। उसके अनुसार आज का मानव 'स्वरति' के रोग से पीड़ित है। उसे केवल व्यष्टि का ध्यान है। स्वार्थ अपनी सीमा को पार कर रहा है। ऐसी स्थिति में जब तक उससे 'स्व' के भाव निकलेंगे नहीं और जब तक वह अपना मनोवैज्ञानिक विस्तार करके 'पर' की ओर आकृष्ट न होगा, उसे मानसिक शान्ति न मिलेगी।

रूपक तत्त्व को दृष्टि में रखकर ध्यान से विचार करने पर 'कामायनी' में कुछ असंगतियाँ भी दिखाई पड़ती हैं। शुक्लजी तथा कुछ अन्य आलोचकों ने इसका संकेत किया है, पर यथार्थ यह है कि रूपक का यह अर्थ कदापि नहीं है कि रचना का हर शब्द दोनों ओर खींचा जाय। अप्रस्तुत रूप सांकेतिक होता है और उसकी स्पष्ट झलक ही पर्याप्त समझी जानी चाहिए। विस्तार से देखने पर इस प्रकार की एक-दो नहीं, दस-बीस असंगतियाँ निकाली जा सकती हैं, पर यह बाल की खाल निकालना रचना के प्रति न्याय नहीं है।

'कामायनी' में मनस्तत्त्व

मनस्तत्त्व की दृष्टि से भी 'कामायनी' विचारणीय है। महाकाव्यों में हम सर्गों का नाम प्रायः पात्र, घटना या स्थान के नाम पर पाते है । पर 'कामायनी' में ये नाम अधिकांशतः मानसिक वृत्तियों पर आधारित है। पीछे कहा जा चुका है कि मनु 'मन' हैं, और इस रूप में 'कामायनी' मन की कहानी-सी है । मानव-मन में मानसिक बृत्तियों का उदय प्रायः जिस क्रम से होता है उसी क्रम से 'कामायनी' में सर्ग आते गए हैं । लगता है कि कवि यहाँ इन वृत्तियों के प्रकाश में मनुष्य के आरम्भ से लेकर उसके उच्चतम उत्कर्ष की विकास-धारा को चित्रित कर रहा है । यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है कि 'मानव' में स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हैं, अब दोनों का आधार लेते हुए ही यह विकास दिखाया गया है यदि कोई मानसिक वृत्ति किसी पुरुष में या कोई, किसी स्त्री में दिखाई गई है तो इसका आशय यह नहीं कि वह उसी तक सीमित है । ऐसा तो मात्र कथानक एवं पात्र की अनुकूलता की दृष्टि से ही किया गया है ।

अभी तक बाल-मनोविज्ञान बहुत अधिक विकसित नहीं हो सका है, फिर भी यह सामान्य धारणा है कि **'जन्मत मरत दुसह दुख होई ।'** बालक जब जन्म लेता है तो उसकी स्थिति कुछ 'प्रलय' में पड़े व्यक्ति-जैसी ही होती है । कुछ वैसी ही अव्यवस्था एवं कष्टादि का वह अनुभव करता है ।

उत्पन्न होने के बाद उसमें पहला भाव 'चिन्ता' का जगता है । उसे ही **'विश्व का प्रथम मनोमय व्यापार'** कहा गया है । मानव की समस्त उन्नति के मूल में यही है । चिन्ता की उत्पत्ति अभाव से होती है —

हे अभाव की चपल बालिके ।

यदि कोई भी अभाव न हो तो चिन्ता की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है ? अभाव हुआ तो उसे दूर करने के लिए हम चिन्तित होंगे और फिर आवश्यकतानुसार आविष्कार करते आगे बढ़ेंगे । इसीलिए प्रसाद ने इस 'अभिशाप' को 'मधुमय' कहा है । इसी कारण आगे बढ़कर हम मधुमय जीवन का आलिंगन कर पाते हैं ।

यदि व्यक्ति केवल चिन्ता में रहे तो वह घुट-घुटकर मर जाय । चिन्ता के बाद 'आशा' का उदय होता है । अभाव की पूर्ति के लिए हम आशा की किरण देखते हैं और तब हममें गतिशीलता आती है, हम आगे बढ़ते हैं ।

इसके बाद मानव में विश्वास या आस्था रूप में 'श्रद्धा' का जन्म होता है । हृदय की दया, माया, ममता, स्नेह आदि उदात्त वृत्तियों का सम्बन्ध इसी

से है। इसके कारण मन की चंचलता कुछ कम होती है और वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धा मूल भाव न होकर संकट है। इसके बनने में प्रेम, प्रफुल्लता तथा अहं का अभाव आदि कई भाव सहायक होते हैं।

श्रद्धा के बाद क्रम से काम, वासना और तब लज्जा का उदय होता है। 'कामायनी' में प्रसाद के 'काम' और 'वासना' का उदय मनु में दिखाया है और उनके सम्पर्क से 'लज्जा' का उदय श्रद्धा में। यों लज्जा स्त्रियों में अधिक होती है, पर इसका यह आशय नही कि पुरुष में यह नही होती। इसी प्रकार काम और वासना का भी नारी में वही रूप है जो पुरुष मे। 'काम' का अर्थ बहुत व्यापक है। यह इच्छाओं का समाहित रूप है। वासना काम का एक सीमित रूप है इसमें इन्द्रिय-भोग की लिप्सा बढ़ती है। लज्जा एक प्रकार का संकोच है। यह बड़ी सूक्ष्म भावना है। लज्जा अपना परिचय स्वयं देती है—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग में, नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ॥

इसके बाद 'कर्म' सर्ग है। 'कर्म' मानसिक वृत्ति नहीं है। कथा-सूत्र मिलाने के लिए यह यहाँ रचाया गया है। इसमें काम और वासना की चरम परिणति है। पिछले सारे मनोभाव मिलकर व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करते हैं। अपनी सारी इच्छाओं को शान्त करने के लिए वह कर्म करना आरम्भ करता है।

'ईर्ष्या' अपेक्षाकृत विकसित मन की वृत्ति है। छोटे बच्चों में यह नही होती। यह लज्जावती वृत्ति है। कोई इसे प्रकट नहीं करना चाहता। या करता भी है तो अवान्तर रूप से। आधुनिक मनोविज्ञानिकों ने इसे एक ज़हर कहा है जो अहं, क्रोध आदि कई भावों से मिलकर उत्पन्न होता है। यह दाहक हैं। व्यक्ति इसमें घुट-घुटकर मरता है और जब कोई वश नहीं चलता तो ईर्ष्या-जनक स्थिति से दूर भागना चाहता है। मनु ने 'कामायनी' में यही किया है। उनका अहं इतना बढ़ता है कि एकाधिकार चाहते है। अपनी सन्तान से ईर्ष्या! और अन्त में कोई पथ न देखकर पलायन।

ईर्ष्या के बाद 'इड़ा' सर्ग है। 'इड़ा' बुद्धि है। कर्म की भाँति ही यह भी कोई मानसिक वृत्ति या भाव नहीं है। मन अपने अहं और अभाव की तृप्ति के लिए कोई रास्ता न देखकर बुद्धि का सहारा लेता है। उसका अहं बढ़ता जाता है और अन्त में वह बुद्धि पर भी अपना पूर्ण अधिकार चाहता है। उसका 'स्व' भीषणतम रूप धारण कर लेता है और तब उसका पतन भी भीषण होता है। इस पतन में उसकी सारी आसुरी प्रवृत्तियाँ भी सहायक होती हैं।

'स्वप्न' सर्ग भी भाव न होकर एक मानसिक स्थिति है। यहाँ इसे कथानक को आगे बढाने के लिए रखा गया है।

काम, वासना और ईर्ष्या से परितोषित अहं बुद्धि की मदिरा पीकर इतना उन्मत्त हो जाता है कि उसकी परिणति 'संघर्ष' में ही हो सकती है। बुद्धि के अतिवाद का यह स्वाभाविक गन्तव्य है, और अन्ततः इसमे मनुष्य को हारना ही पड़ता है, और यदि किसी चीज़ की प्राप्ति होती है तो वह है मानसिक अशान्ति।

मनुष्य मे 'निर्वेद' की अवस्था आने की यही उचित भूमिका है। चारों ओर से हारे और निराश व्यक्ति के लिए और रास्ता ही क्या हो सकता है? निर्वेद भी संकट-भाव है। यह भाव है भी या नही इसे लेकर अपने यहाँ और पश्चिम मे भी पर्याप्त विवाद है। खैर, जो भी हो यहाँ निर्वेद नकारात्मक न होकर सकारात्मक भाव-सा है। मनु की समझ में अब आता है कि उनकी दुष्प्रवृत्तियों का ही यह परिणाम था। उन्हें ग्लानि होती है और फिर उचित पथ पर चलने के लिए, स्वस्थ जीवन अपनाने के लिए उन्हे श्रद्धा की शरण लेनी पड़ती है। व्यक्ति बुद्धि के अतिवाद से परास्त होकर श्रद्धा, विश्वास, आस्था आदि की ओर ही अभिमुख होता है और फिर इन्ही सात्विक और मानवीय वृत्तियों के कारण उसके अहं या 'स्व' के अतिवादी भाव दूर होते है और तब उसे यथार्थ आत्मदर्शन (दर्शन) होता है, जीवन का 'रहस्य' ज्ञात होता है और वह समाप्त होकर वह 'आनन्द' की प्राप्ति करता है।

अर्थात् मानव को चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, तथा अति बुद्धिवादिता की स्थितियों से होते हुए अपने सत्यासत्य के रहस्य का ज्ञान होता है और तब वह स्वस्थ जीवन के आनन्दपूर्ण रूप को समझ पाता है।

'कामायनी' में सृष्टि का इतिहास

सृष्टि के सांकेतिक इतिहास के रूप में भी 'कामायनी' की कथा को देखा जा सकता है। कथा का प्रारम्भ सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था से होता है। मनु अकेले है। आरम्भ में मनुष्य अकेला था। प्रकृति और वन्य जन्तुओं ने समाज बनाने को बाध्य किया। श्रद्धा और मनु का मिलन उसी का प्रतीक है। आरम्भ में मनुष्य में भाव की प्रधानता थी। उसकी बुद्धि अविकसित थी। पर धीरे-धीरे उसने बुद्धि का वरण किया। आज संसार की वही स्थिति है जो प्रसाद जी ने सारस्वत प्रदेश में चित्रित की है। बुद्धि के अतिवाद के कारण आज का मनुष्य मन से कम अशान्त और चिन्तित नही है।

उसका अहं अपनी सीमा पार कर रहा है। हृदयहीन होकर उसने श्रद्धा और विश्वास को तो पूर्णतः खो दिया है। इस रूप मे सृष्टि के आदि से लेकर आज तक की सांकेतिक कहानी 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'इड़ा' सर्ग में चित्रित सारस्वत प्रदेश की अपूर्व भौतिक उन्नति आज की ही है। लगता है कि अब 'कामायनी' का संघर्ष, जो वहाँ तो साकेतिक मात्र है, अपने विकरालतम रूप मे विश्व के प्रांगरा मे उतरने वाला है। उसके बाद हर प्रकार नष्ट-भ्रष्ट और असहाय होकर मानव बुद्धि की अतिवादिता से दूर होगा और हृदय की उदात्त मानवीय वृत्तियों के सहारे भविष्य में समरसता से सुगन्धित आनन्द-पूर्व विश्व का निर्माण कर सकेगा। तो क्या 'कामायनी' आरम्भ के ८ सर्ग भूत के; इड़ा सर्ग वर्तमान के और अन्तिम ५ सर्ग भविष्य के इतिहास का संकेत करते हैं ? लगता है कि प्रसाद की भविष्य-वाणी सत्य होगी।

चरित्र-चित्रण

'कामायनी' में कुल छः चरित्र है—मनु, श्रद्धा, इड़ा, कुमार (मानव), आकुलि और किलात। इनमें 'चरित्र-चित्रण' की दृष्टि से द्रष्टव्य केवल प्रथम चार हैं। आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक आकुलि-किलात दोनों ही केवल दो स्थानों पर दिखाई पड़ते हैं। पहले स्थान पर वे मनु को हिंसा आदि में प्रवृत्त करने के लिए प्रोत्साहित करते है और दूसरे स्थान पर उनका पतन होते देखकर उन्हें समाप्त करने पर तुले है। उनके चरित्र की एक-मात्र विशेषता है उनकी विशिष्ट दुष्टता, जो किसी को पहले मित्र बनकर पतित होने के लिए प्रोत्साहित करती है, फिर शत्रु बनकर उसका सर्वनाश करती है। वे किसी के नहीं है। उनका मात्र ध्येय है अपना स्वार्थ-साधन और दूसरों को पथभ्रष्ट करना।

मनु 'कामायनी' की कथा के केन्द्र हैं। सामान्य दृष्टि से भी और रूपक की दृष्टि से भी। वे आराम में देवसृष्टि से बचे हुए एक देवता के रूप में हमारे सामने आते है। 'तरुण तपस्वी', 'दृढ़ मांसपेशियाँ', 'ऊर्जस्वित था वीर्य अपार' आदि उनकी विशेषताएँ है। पर केवल वे शरीर से ही स्वस्थ है। मन से अस्वस्थ, और चिन्ता-कातर हैं। दूसरा रूप उनका ऋषि-चिन्तक का है। चिन्तन करने पर उन्हें देवों की भूल का पता चलता है और इस शाश्वत परिवर्तन के बीच विराट् सत्ता के आभास का आभास मिलता है। मनु का तीसरा रूप गृहस्थ का है, जहाँ वे श्रद्धा के साथ हैं और यज्ञादि कर्मो में लीन है। यहाँ मनु असफल है। उनका अगला रूप प्रजापति मनु का है, जहाँ वे भौतिक और यान्त्रिक उन्नति में अत्यन्त सफल हैं, पर उनकी सफलता इतनी अधिक

यांत्रिक और ऊपरी हैं कि अन्त में फिर असफलता में परिवर्तित हो जाती है। अन्तिम रूप है उनका आनन्ददर्शी का जो उनका सर्वोच्च रूप है।

अन्तिम रूप छोड़कर मनु प्रायः विलासिता और कामुकता में डूबे दृष्टिगत होते हैं। जैसे इन्द्रिय-सुख ही उनके जीवन का लक्ष्य हो। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है उनके व्यक्तित्व की ढुल-मुल-यकीनी। वे अहं और इन्द्रिय-सुख में इतने डूबे है कि अपने-आप उन्होंने जो भी किया है पथभ्रष्टता का ज्वलन्त रूप है। उनके अपने किये प्रमुखतः दो ही काम हैं; एक तो श्रद्धा को त्यागना और दूसरे इड़ा के साथ बलात्कार का प्रयास। उनसे जो भी अच्छा हो सका है। चाहे आरम्भ में या बीच मे या अन्त में, उसके करने में वे निमित्त-मात्र हैं। हुआ है या तो श्रद्धा या इड़ा की प्रेरणा से। वे अकेले बहुत दूर तक सोच भी नही पाते। भावावेश में जब जैसा आया कर बैठते है पहली बार आसन्नगर्भा श्रद्धा, और दूसरी बार श्रद्धा, इड़ा और मानव से दूर भागकर वे इसी का परिचय देते हैं। अन्त में निर्वेद का भाव आने के पूर्व तक, उनके व्यक्तित्व की एक यह भी विशेषता है कि अच्छे काम के लिए उन्हें चाहे कितना भी कहिये-समझाइये कोई प्रभाव नही। वे करेगे मनमानी। पर, बुरे काम के लिए थोड़ा भी प्रोत्साहित कर दीजिए तो तुरन्त कर बैठते है। श्रद्धा ने ईर्ष्या और उसके पूर्व के सर्गों में तथा इड़ा ने संघर्ष में उन्हें सत्पथ पर चलाने का प्रयत्न किया है पर कोई परिणाम नहीं। पर दूसरी ओर आकुलि-किलात ने देखते-देखते उनसे अपने मन की करा ली है।

मनु के द्वारा प्रसादजी ने सम्भवतः आज के मानव को चित्रित किया है। अन्तिम सर्गो को छोड़कर आद्यन्त मनु जिस असहायावस्था तथा अशान्ति का अनुभव करते हैं, वह आज के मानव की है। पर उनके पतन की दारुण कला अन्त में उत्थान में बदलकर जो सन्देश देती है वह भी उनके पतन-सा ही अपूर्व है। कामुकता, लोक-मंगल से विमुखता, अहं तथा स्वार्थ की प्रतिमूर्ति। मनु अन्त में शान्ति, लोक-मंगल, निःस्वार्थता तथा समरसता की सजीव प्रतिमा बनकर मानव स्वस्थ पथ का प्रकाश बन जाते है। इनके चरित्र को अंकित करने में कवि का उद्देश्य भी यही है और इसमें वह निश्चय ही सफल है। विशेषतः अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि से तो मनु का चित्रण पूरे हिन्दी-काव्य में अकेला है।

मनु को 'कामायनी' की कथा का केन्द्र कहा जा चुका है, पर उनके चरित्र में वह उदात्तता नहीं है जो उन्हें 'कामायनी' का सबसे उदात्त पात्र बना सके। वे रसभोक्ता हैं, पर 'कामायनी'-जैसी कृति का नायक मानने का उन्हें जी नहीं चाहता। कामाय, नीकार ने भी यह नहीं चाहा। 'कामायनी' नायिका-प्रधान

कृति है और इसकी प्रमुख पात्री कामायनी है, जैसा कि कृति के नाम से भी स्पष्ट है।

मनु के चरित्र में यदि यथार्थ का प्राधान्य है, तो 'कामायनी' में आदर्श का। भारतीय नारी के जिस उदात्ततम रूप और विशाल अन्तःकरण का कवि प्रसाद की कल्पना स्पर्श कर सकी, उसीका मोहक चित्र 'कामायनी' (श्रद्धा) है। बाह्य और आन्तरिक समस्त सौन्दर्यो का पुञ्जीभूत रूप। प्रतीक-रूप में तो वह हृदय है, ही पर इससे आगे बढ़कर यह भी कहना सत्य से दूर न होगा कि मानव-मात्र के लिए अनिवार्य सारे उदात्त मानवीय गुणों की भी वह मूर्ति है। वह हमारी वह सद्‌वृत्ति भी है, जिसके कारण पतन के पंक से निकलकर हम उन्नति के ऊर्ध्व बिंदु पर समासीन हो सकते है। पंत के शब्दों से वह यथार्थ अर्थो मे 'देवि मा सहचरि प्राण' है। 'महाभारत' में एक श्लोक है जिसमें कवि ने स्त्री को संसार के सारे दुःखों की औषधि कहा है। श्रद्धा सचमुच ही मनु के सारे दुःखों और कष्टों की औषधि है। सेविका से लेकर गुरु तक।

यहाँ श्रद्धा के शब्दों, कार्यो और उद्देश्यों को लेकर उदाहृत करने का तो अवकाश नहीं, पर संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आद्यन्त उसकी हर गति नि.स्वार्थ मंगल-कामना से स्फूर्त है। आशा के साथ कर्म में रत होने के सन्देश की वाहिका, नारी-सुलभ-लज्जा-वेष्टित-मर्यादित-समर्पण की मूर्ति, आदर्श पत्नी और माता, सफल गृहिणी, त्याग, अगाध विश्वास, निश्छल प्रेम, क्षमा, दया, ममता, मधुरिमा, सहिष्णुता और करुणा की प्रतिमा, लोक-मंगल की दिव्य प्रचारिका एवं सामरस्य के प्रतीक के रूप में उसके चरित्र के विभिन्न पक्षों को प्रसाद की कुशल लेखनी ने जिस सफलता के साथ उभारा है वह इस चरित्र-जैसा ही श्लाघ्य है।

श्रद्धा का यह तो लौकिक रूप था, पर साथ ही उसके व्यक्तित्व में कही-कही अलौकिकता का भी स्पर्श है। उदाहरणार्थ 'रहस्य' सर्ग मे उसकी मुस्कान से तीनों लोक मिलकर एक हो जाते है। स्पष्ट ही यहाँ कवि ने उसे शिव-शक्ति के रूप में चित्रित किया है। पर, उसके इस प्रकार के रूप गौण हैं।

श्रद्धा के चित्र द्वारा प्रसाद ने न केवल एक आदर्श नारी का चित्र प्रस्तुत किया है अपितु मानव-मात्र के लिए इस बात का भी संकेत दिया है कि किन मानसिक वृत्तियों को अपनाने से व्यष्टि और समष्टि दोनों का कल्याण हो सकता है।

इड़ा के चरित्र के स्पष्टत: दो पक्ष हैं। एक ओर वह बुद्धि की प्रतीक अतएव बुद्धिवाद के अतिरेक के कारण असन्तुलित-सी है। भौतिक उन्नति को

ही सर्वस्व मानती है। ईश्वर-जैसी विराट् शक्ति की उपेक्षा करती है। इस रूप में वह मनु को मदिरा के प्याले-पर-प्याले देकर विलास की प्रेरिका भी है। यह उसके व्यक्तित्व का अनुज्वल पक्ष है। इतने रूप मे वह आज के यांत्रिक युग की मानव-बुद्धि की प्रतीक है। पर दूसरी ओर वह सुन्दरी, सहनशीला, स्वावलंबिनी, दया, करुणा और स्त्री-सुलभ कोमलता से युक्त, मनु की निष्पक्ष परामर्शदात्री, अपनी गलती स्वीकार करके अस्वस्थ पथ को छोड़कर स्वस्थ पथ का अनुसरण करने वाली, कृतज्ञ तथा क्षमाशीला आदि भी है। यह है उसका उज्ज्वल पक्ष। प्रसाद इड़ा के द्वारा यह संकेत कर रहे है कि आज अनीश्वरवादिता, भौतिकता और बुद्धिवादिता के पंक में फँसी हुई मानवता हृदय-पक्ष को जागृत करके उसके बताये पथ पर चलकर ही अपना कल्याण कर सकती है।

'मानव' (या कुमार) 'कामायनी' का गौण पात्र होते हुए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह भावी मानव का प्रतीक है, जो बुद्धि और हृदय के समन्वय से उचित पथ का अनुसरण करेगा। उसके चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ माता से अतुलित प्रेम, किशोर-सुलभ चंचलता एवं क्रीड़ाप्रियता, पिता से प्रेम, दुर्दिन में माता को अवलम्ब देने वाले तथा माता की आज्ञा मानने वाले के रूप मे सांकेतिक रूप से उभरी हैं।

प्रसाद का चरित्र-चित्रण परम्परागत ढंग का न होकर सांकेतिक है। वर्णन की प्रधानता तो उसमें है ही नहीं। परिस्थिति-जन्य मनोवैज्ञानिक उतार-चढाव, अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्वृत्तियों के सूक्ष्म निरूपण द्वारा ही प्रमुखतः उसका उभार हुआ है।

'कामायनी' के सभी चरित्र दोहरे है। उनके दोहरेपन की रक्षा करते हुए भी कवि ने उन्हें पूर्ण सजीव रखने में जो सफलता पाई है, वह निश्चय ही अप्रतिम है।

महाकाव्यत्व

छायावाद का प्रथम और अन्तिम महाकाव्य 'कामायनी' महाकाव्यों की परम्परा में एक नूतन अध्याय जोड़ता है। पूर्व-प्रचलित महाकाव्यों से अनेक बातों में भिन्न होने के कारण आचार्यों द्वारा निर्मित महाकाव्य की कसौटी इस सोने की परख करने में असमर्थ है। लक्षण-ग्रन्थ बनाए जाते हैं लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर। जब ऐसे लक्ष्य-ग्रन्थ थे ही नहीं, तो इसे बाँध पाने वाले लक्षण बनते तो कैसे ?

भारतीय आचार्यों में कइयों ने महाकाव्य के लक्षण दिये हैं। इनमें

अधिक प्रचलन आचार्य विश्वनाथ के लक्षणों का है जो 'साहित्य दर्पण' में दिये गए हैं। इनके अनुसार महाकाव्य में ये लक्षण होने चाहिए—(१) सर्ग-बद्ध हो। (२) कम-से-कम ८ सर्ग हों, जो न बहुत छोटे हों, न बहुत बड़े। (३) प्रत्येक सर्ग का एक अलग-अलग छन्द हो, जो केवल अन्त में बदले। एक सर्ग में विभिन्न छन्दों का भी प्रयोग हो सकता है, तथा सर्गान्त में आगे आने वाले छन्द की भी सूचना दी जा सकती है। (४) नायक धीरेदात्त गुण वाला देवता या उच्च कुल का क्षत्रिय होना चाहिए। (५) शांत, वीर और शृङ्गार में कोई रस प्रधान होना चाहिए। (६) अन्य रस सहायक होने चाहिएँ। (७) कथावस्तु नाटकीय संधियों द्वारा गठित होनी चाहिए। (८) कथानक ऐतिहासिक या किसी उच्च चरित्र से सम्बद्ध होना चाहिए। (९) महाकाव्य का उद्देश्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए। (१०) प्रारम्भ मे मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा आदि का होना भी आवश्यक है। (११) उचित अवसरों पर सूर्य, चन्द्र, संध्या, रात्रि, अन्धकार, दिन, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, वन, सागर, ऋतु, संयोग, वियोग, ऋषि, स्वर्ग, यज्ञ, नगर, युद्ध, विवाह तथा कुमार-जन्म आदि का वर्णन होना चाहिए। (१२) कृति का नाम कवि, नायक किसी अन्य पात्र या कथावस्तु के नाम पर होना चाहिए। (१३) सर्गों के नाम वर्ण्य-विषय के आधार पर होने चाहिएँ। अन्य आचार्यों ने भी थोड़े परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ इन्हीसे मिलते-जुलते लक्षण दिए हैं। पश्चिमी आचार्यो के अनुसार महाकाव्य (१) बृहदाकार और प्रकथन-प्रधान (Narrative), (२) जातीय भावों से युक्त, (३) किसी बड़े जातीय संघर्ष का चित्रण करने वाला, (४) विषय की दृष्टि से परम्परा से लोकप्रिय और प्रतिष्ठित, (५) शूरवीर पात्रों से युक्त, (६) उदात्त शैली वाला तथा (७) एक छन्द में लिखित होना चाहिए। वाल्टर पेटर ने महाकाव्य के लिए विस्तृत परिधि, महान् उद्देश्य, आशा की विशालता, मानव-कल्याण की प्रयत्नशीलता, तथा परस्पर सहानुभूति का सम्वर्द्धन आदि को ही आवश्यक माना है। इन सबके आधार पर व्यर्थ की बाहरी बातों को छोड़कर महाकाव्य के लिए (१) सुगठित, प्रसिद्ध गम्भीर तथा विस्तृत कथानक, (२) पात्रों की उदात्तता, (३) अधिकाधिक भावों, वस्तुओं तथा मानव-जीवन की अवस्थाओं का चित्रण, (४) उद्देश्य की महानता एवं (५) कला की दृष्टि से गरिमा आवश्यक है।

'कामायनी' की कथा का आधार ख्यात और उत्पाद्य दोनों ही प्रकार की घटनाएँ हैं। भारतीय पुराणों के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों और घटनाओं को

लेकर कवि ने अपनी कल्पना के आधार पर कथानक की रचना की है। कथानक बहुत सुगठित और सुगुम्फित है। भारतीय दृष्टि से जिन संधियों और कार्य-अवस्थाओं आदि की आवश्यकता कथानक मे मानी गई है प्रायः वे भी इसमें है। पूरी कथा स्वाभाविक गति से आगे बढ़कर 'आनन्द' सर्ग के केन्द्र-विन्दु पर पहुँचती है। अनावश्यक घटनाएँ बिलकुल नही हैं।

विस्तार की दृष्टि से इसका कथानक महाकाव्योचित नहीं है। पर यह कारण है।

'कामायनी' वर्णनात्मक और घटना-प्रधान महाकाव्य न होकर छायावादी प्रवृत्ति के अनुकूल अन्तर्मुखी, गीति-तत्त्व एवं विश्लेषण-प्रधान है। घटना-वैविध्य या विस्तृत इतिवृत्तात्मकता के अभाव की पूर्ति भावात्मक पक्ष की प्रबलता तथा मानसिक धरातल की विशदता एवं गहराई से हो गई है। इसी कारण कुछ लोगों ने इसे प्रगीतात्मक महाकाव्य कहा है। यों कथा का विस्तार थोड़ा तो है पर सांकेतिक रूप में पूरे मानव-जीवन या सृष्टि के इतिहास के रूप में कई करोड़ वर्षो के मानवीय उत्थान-पतन को इसमें समेटने प्रयास है।

पात्रों की उदात्तता की दृष्टि से भी 'कामायनी' उच्चकोटि की है। यह नायिका-प्रधान प्रबन्ध है। भारतीय दृष्टि से नायक में जो धीरोदात्तता अपेक्षित है, वह श्रद्धा में पूर्णरूपेण है। उससे अधिक उदात्त पात्र की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। हाँ इसके नायक मनु अपने प्रारम्भिक जीवन में, 'रहस्य' सर्ग के पूर्व तक बहुत ही पतित-से तथा तामसिक दुर्गुणों के प्रतीक-से हैं। पर उसके बाद उनमें भी उदात्तता की गरिमा के दर्शन होते हैं। यों भी इस सृष्टि के आदिपुरुष होने के नाते वे नायकत्व के सर्वथा अधिकारी है। इड़ा और मानव का व्यक्तित्व भी पर्याप्त उच्च है। इड़ा आरम्भ मे बुद्धिवाद की अतिरेकता से आच्छादित होने पर भी महाकाव्योचित है। प्रायः महाकाव्यों में प्रतिनायक या खलनायक भी होता है जिसके कारण संघर्ष की तीव्रता बढ़ती है। रूपकत्व के कारण 'कामायनी' में मानव की तामसिक प्रवृत्तियाँ ही प्रतिनायक-जैसी हैं और उनसे प्रारम्भ में तो मनु अभिभूत होते है, पर अन्त में उन्हे पराजित करके मानवता को विजयिनी बनाते है।

'कामायनी' में मानसिक भावों के विश्लेषण का ही प्राधान्य है। बहुत से तो सर्ग भी भावों पर ही आधारित हैं। अतएव इस दृष्टि से भी इसे असम्पन्न नहीं कहा जा सकता। यों 'काम' के प्राधान्य के कारण इससे दूर के भावों के चित्र के लिए कम अवकाश मिला है। भावों के चित्रण की विशे-

षता यह है कि कवि ने गहराई में उतरकर उन्हें देखा है, सामान्य कवियों की भाँति मात्र उल्लेख ही नहीं कर दिया है। साथ ही ये चित्र इतने सजीव हैं कि पाठक को रससिक्त करने की अपूर्व क्षमता रखते है।

इसमें अन्त से कुछ पूर्व तक शृङ्गार रस का प्राधान्य है। उसके वियोग और संयोग रूपों से सम्बद्ध अनेकानेक मानसिक स्थितियों का चित्रण बड़ी सफलता से हुआ है। अन्त के सर्गों में आनन्द से दीप्त शान्त रस है। शेष वीर भयानक, रौद्र, बीभत्स, वात्सल्य, करुण आदि का भी यत्र-तत्र चित्रण है। कुछ उदाहरण हैं—

संयोग शृङ्गार—**झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारिता के भार।**
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार॥

× × ×

और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव।
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव॥

× × ×

स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्‌गद् बोल॥

वियोग शृङ्गार—**अरे बता दो मुझे दया कर कहाँ प्रवासी है मेरा।**
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मैं फेरा।

वीर रस—**कायर तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया।**
अरे समझकर जिनको अपना था अपनाया॥
तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि।
रण यह, यज्ञ पुरोहित! ओ किलात ओ आकुलि॥

भयानक—**प्रकृति त्रस्त थी भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना।**

बीभत्स—**दारुण दृश्य रुधिर के छींटे! अस्थि-खण्ड की माला।**

हास्य रस 'कामायनी' में नहीं है और नहीं तो मानव (कुमार) की बातचीत में या उसकी क्रीड़ा में इसकी अवतारणा सरलता से हो सकती थी, पता नहीं कवि ने क्यों इधर ध्यान नही दिया।

संस्कृत के 'रामायण', 'महाभारत' या हिन्दी के 'रामचरित मानस' आदि महाकाव्यों की भाँति वस्तु-वर्णन तथा मानव-जीवन के विविध कोणों के चित्र की दृष्टि से 'कामायनी' बहुत सम्पन्न नहीं है। उसका प्रमुख कारण है इसमें वर्णन की कमी और विश्लेषण तथा भावों के सूक्ष्म चित्रण का प्राधान्य। फिर भी, युद्ध, पुरुष रूप, स्त्री का सामान्य, विरह-संतप्त तथा आसन्नगर्भा रूप,

शिशु-क्रीड़ा, प्रकृति के उषा, सन्ध्या, ज्योत्स्ना तथा प्रभाव आदि रूपों में मोहक एवं भूकम्प या प्रलय रूप मे भयानक तथा उग्र रूप आदि के बड़े प्रभविष्णु चित्र है।

महाकाव्यों में उद्देश्य की महत्ता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इस दृष्टि से तो 'कामायनी' सम्भवतः विश्व-साहित्य में अप्रतिम है। यों महदुद्देश्य सभी महाकाव्यों मे होते है, पर वे प्रायः विशिष्ट धर्म, विशिष्ट वर्ग या विशिष्ट संस्कृति के लोगों के लिए होते हैं, पर प्रसाद ने इन सारी सीमाओं को लाँघकर मानव-मात्र के लिए सन्देश दिया है। और वह सन्देश भी अन्ध-विश्वासपूर्ण धर्म, पुराण या इस तरह की किसी अन्य भित्ति पर आधारित न होकर वैज्ञानिक और मनोविज्ञान से अनुमोदित है। आज मनुष्य बौद्धिक और भौतिक अतिरेक से पीड़ित एवं स्वार्थ की कारा में बन्द होने के कारण बड़ी असहायावस्था में तथा अशान्त है। कामायनीकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सामंजस्य बुद्धि और हृदय के समन्वय द्वारा तथा प्रेम से 'स्व' की परिधि विस्तृत करके 'स्व' और 'पर' का भेद मिटाकर हर प्रकार की समरसता स्थापित करने का सन्देश देते है। इसी पथ पर चलकर शाश्वत मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सकेगी और टूटा तथा अस्वस्थ मानव-जीवन स्वस्थ, पूर्ण और शान्त हो सकेगा। प्रसाद ने **'शापित न यहाँ पर कोई…'** छन्द में उसी स्वस्थ समाज का चित्र दिया है। इस महदुद्देश्य की प्रेरणा कवि को बौद्धों के मध्यम मार्ग, शैव-दर्शन की समरसता तथा आधुनिक युग के मानववाद एवं डारविन के विकासवाद आदि विभिन्न स्रोतों से मिली ज्ञात होती है।

भारतीय दृष्टि से महाकाव्य का उद्देश्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए। 'रामचरित मानस' का उद्देश्य मोक्ष ही है। 'कामायनी' का उद्देश्य भी मोक्ष कहा जा सकता है, पर वह मोक्ष उस लोक का न होकर इसी लोक का और व्यावहारिक है। उसके आधार पर हम जीते जी मोक्ष के आनन्द के भागी हो सकते है। दर्शन और मनोविज्ञान की सुदृढ़ पीठिका पर आधारित प्रसाद के चिन्तन की यह गरिमा उनकी अन्तर्दर्शी तथा अतल स्पर्शिनी विराट प्रतिभा का ही प्रतिफल है।

महाकाव्य की उपर्युक्त विशेषताएँ काव्य के आंतरिक पक्ष से सम्बद्ध थीं। 'कामायनी' अपने बाह्य या कला-पक्ष की दृष्टि से भी उतनी ही भव्य है। उसकी कला की महाकाव्योचित गरिमा असंदिग्ध है। 'कामायनी' की भाषा पग-पग पर प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता एवं चित्रात्मकता के सहज-स्वाभाविक आभूषणों से अलंकृत है। शब्द-शिल्पी प्रसाद ने अपना

सुकोमल और अपरिमित व्यंजक शब्दावली को इस ढंग से सजाया है कि भाव जैसे छलके पड़ते है, लबालब प्याले से मादक मदिरा की भाँति। उनकी प्रगल्भ कल्पना अप्रस्तुत-चयन मे इतनी कुशल है कि उनका अंतःकरण-विधान भावों को मूर्त्त कर देता है। शैली और छन्द भी भाव एवं विषय के पूर्णतः अनुकूल है।[1]

'कामायनी' निश्चय ही हिन्दी या भारतीय महाकाव्यों में ही नही, विश्व के महाकाव्यों में भी गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है।

आनन्द

समरसता की प्राप्ति के बाद ही व्यक्ति 'आनन्द' की अनुभूति कर सकता है। प्रसाद आरम्भ से ही जीवन के आनन्द के अन्वेषी रहे है। 'प्रेम पथिक' में ही कवि ने कहा था—

> **जीवन का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना।**
> **किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।**
> **अथवा उस आनन्द भूमि पर जिसकी सीमा कहीं नहीं।**

तब से चलते-चलते कामायनी में उसने उस आनन्द को पा लिया और पा ही नही लिया सर्वसाधारण के लिए भी उस अक्षय निधि की कुञ्जी दे दी।

उपनिषदों में 'आनन्दो ब्रह्मेति' रूप मे ब्रह्म को आनन्द कहा गया है। सम्भवतः इसी आधार पर शैवों ने अपने आनन्दवाद की प्रतिष्ठापना की। शैवों का आनन्दवाद इस लोक का नहीं है। कही प्राणायाम के आधार पर उसकी प्राप्ति का संकेत है तो कहीं 'अनुत्तरावस्था' में पहुँचकर शिव की विसर्ग शक्ति के द्वारा उसके स्फुरण की बात है।

प्रसाद ने समरसता की भाँति इसे भी लोक और परलोक दोनों के लिए माना है। उनके अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। पीछे ससार में रहते हुए वैयक्तिक और सामाजिक विषमताओं मे सामरस्य स्थापित करने की बात कही गई है। उस स्थापना के बाद हमें आनन्द का अनुभव होगा। पारलौकिक जीवन में जीव-ब्रह्म की समरसता के बाद आनन्द की प्राप्ति होगी। वास्तव में यह जीवन ही उस जीवन की भूमिका है जिसने सब प्रकार के वैषम्य और संघर्ष आदि के समन्वय द्वारा यहाँ समरसता की स्थिति पा ली, उसने आनन्द भी पा लिया और फिर उसीके लिए

---

[1] आगे प्रसाद की भाषा और छन्द पर विचार करते समय इस सम्बन्ध में भी कुछ विस्तार से लिखा जायगा।

पारलौकिक समरसता और वहाँ का आनन्द भी सुलभ है। प्रसाद ने अपनी समरसता और अपने आनन्द से दोनों लोकों को जोड़ दिया। इन दोनों के व्यावहारिक पक्ष प्रसाद के अपने चिन्तन से प्रसूत है। इस रूप में प्रसाद एक व्यावहारिक दार्शनिक सिद्ध होते हैं।

दर्शन की दृष्टि से आत्मा, जीव, जगत्, माया, समरसता और आनन्द-सम्बन्धी विचार ही 'कामायनी' में प्रमुख है। पर इसके अतिरिक्त बौद्धों के क्षणिकवाद, दु:खवाद और करुणा, न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद तथा मार्क्स के भौतिकवाद आदि के भी यत्र-तत्र संकेत है।

संदेश—'कामायनी' का सन्देश क्या है, अब कहने की आवश्यकता नहीं। महाकाव्य के रूप में 'कामायनी' के उद्देश्य पर विचार करते समय तथा समरसता और आनन्द के प्रसंग में जो बातें कही गई हैं, वे ही संदेश है। मानव-मात्र के लिए इतने व्यावहारिक और साथ ही गम्भीर सन्देश विश्व के शायद इने-गिने महाकाव्यों में ही दिये होंगे।

दर्शन

प्रसाद जी ने सभी भारतीय दर्शनों का सम्यक् अध्ययन किया था और एक सारग्राही की भाँति उनसे अपने काम की चीजें छाँट ली थी। किसी भी दर्शन को उन्होंने पूर्णरूपेण नहीं अपनाया और जितना भी अंश अपनाया उसे इतना व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया कि जीवन में उसका उपयोग हो सके। दर्शन को वे मात्र तर्क और पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित न रखकर जीवन-दर्शन के रूप में देखने के पक्षपाती थे।

प्रसाद पर सबसे अधिक प्रभाव शैव-दर्शन का है। भारतवर्ष में मुख्यतः केवल चार शैव दर्शनों का विकास हुआ है—(१) नकुलीश पाशुपत दर्शन, (२) शैव दर्शन, (३) लिंगायत दर्शन, (४) प्रत्यभि ज्ञा दर्शन। इन चारों में भी प्रसाद का विशेष सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा दर्शन से ही है। इसका विकास कश्मीर में हुआ, इसीलिए इसे 'कश्मीर शैव दर्शन' भी कहते है। इसके प्रमुख ग्रन्थ 'शिव-सूत्र-विमर्शिनी', 'स्पन्दसर्वस्व' तथा 'स्पन्द शास्त्र' आदि है। इस दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य वसुगुप्त कहे जाते हैं। इसके अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप है। अन्य शैव ग्रन्थों में आत्मा को 'चिति' आदि कई अन्य नामों से भी पुकारा गया है। आत्मा ही विश्व का कारण है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह करती है, जिससे संसार की परम्परा चलती रहती है। 'कामायनी' में

भी आत्मा को 'महाचिति' तथा 'लीलामय' आदि इसी आधार पर कहा गया है।

कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त।

'सर्ग इच्छा का है परिणाम' मे प्रसाद इस आत्मा की इच्छा से ही विश्व-सृजन का संकेत करते है।

इस दर्शन के अनुसार जीव आत्मा से भिन्न है। आत्मा तीन 'मलों' 'पाशों' (१. आणव, २. कार्म, ३. मायीय) एवं तीन प्रकार के कंचुकों[१] (१. आणव मल, २. मलाधिष्ठापक निरोध शक्ति, ३. माया) से युक्त होने पर जीव की संज्ञा पाती है। निर्वेद सर्ग के पूर्व के मनु यही जीव है, जो अपनी यथार्थ स्थिति को भूल गए हैं। बाद में 'आणव', 'शाक्त' और 'शांभव' स्थिति मे जाकर आनन्द-भोगी होते हैं। 'शांभव' स्थिति में ही जीव अपने-आपको पहचान लेता है और 'शिवोऽहम्' की अनुभूति करता है।

सृष्टि आत्मा, चिति या महाचिति की इच्छा का परिणाम है। ऊपर इस प्रसाद द्वारा इसे भी माने जाने का संकेत किया गया है। जैसे स्त्री-पुरुष से पुत्र की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा या शिव पुरुष है और 'काम-कला' नाम की शक्ति स्त्री है। इसी 'काम-कला' को प्रसाद 'प्रेम कला' कहते है—

यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ३६ तत्त्व माने गए हैं। इसमें छठा तत्त्व 'माया' है, जिसका प्रमुख काम है, भेद उत्पन्न करना। उपर्युक्त तीन मलों या पाशों का जन्म इसीसे माना गया है। इसे शिव शक्ति से अभिन्न कहा गया है। 'कामायनी' में भी इस माया को स्थान मिला है।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना।
माया राज्य ! यही परिपाटी पाश बिछाकर जीव फाँसना।।

११वाँ तत्त्व 'नियति' है। यह शिव की एक प्रकार से नियमन-शक्ति है। यही

---

[१] **प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ३६ तत्त्वों में से माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति इन छः को 'षट्कंचुक' कहते हैं। इनसे आवृत होकर 'आत्मा' परिमित हो जाता है। तन्त्रालोक के अनुसार ये षट्कंचुक, उपर्युक्त कंचुकों में आणव मल ही हैं। कुछ लोग माया को निकालकर ५ को ही कंचुक मानते है।**

जीवों को अपने-अपने कार्य मे लगाती है। प्रसाद का 'नियतिवाद' इसी पर आधारित है।

उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे-धीरे।

समरसता

प्रसादजी की यह विशेपता है कि दर्शन के जटिल पारिभाषिक शब्दों को भी उन्होंने व्यावहारिक बनाकर हमारे बीच रख दिया है। 'समरसता' शब्द भी इसी प्रकार का है। मूलतः इसका सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा दर्शन से है। इसकी व्याख्या विभिन्न शैव-दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से की है। दो का मिलकर एक हो जाना ही समरसता है। एक नदी समुद्र से मिलकर समरस हो जाती है या समरसता की प्राप्ति करती है। 'नेत्रतन्त्र' के अनुसार योगी जब इस बात की अनुभूति करता है कि 'न तो मैं हूँ और न कोई अन्य', तो उसका मन आनन्द में लीन हो जाता है, यही समरसता है। आशय यह है कि द्वैत का मिट जाना ही समरसता है। शैव-दर्शन मे इसका आशय हुआ जीव का आत्म-ज्ञान प्राप्त करके 'शिवोऽहम्' की अनुभूति। इस स्थिति मे आनन्द-ही-आनन्द रहता है, सुख-दुःख आदि नही। इसका विरोधी शब्द हुआ विषमता। मल, कंचुक या मोह आदि मे लीन व्यक्ति इसी वैषम्य की ज्वाला मे जलता है। इस दार्शनिक समरसता पर आधारित प्रसाद की व्यावहारिक समरसता में समन्वय का भाव है और सम्भवतः बौद्धों के मध्यम मार्ग तथा भारतीय-दर्शन के समन्वयवादी दृष्टिकोण का भी इस पर प्रभाव है। 'आँसू' में 'सुख-दु.ख' 'विरह-मिलन'-जैसी विषमताओं मे सामरस्य स्थापन का ही संकेत है। 'कामायनी' में भी सुख-दुःखात्मक जगत् को भूमा का मधुमय दान कहा गया है। सुख-दुःख के अतिरिक्त कवि वैयक्तिक जीवन में हृदय और बुद्धि में समन्वय करने या समरसता स्थापित करने का सन्देश देता है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय! तू मननशील कर कर्म अभय।
सबकी समरसता कर प्रचार। मेरे सुत सुन माँ की पुकार।

वैयक्तिक जीवन में इच्छा, ज्ञान और कर्म के एक-दूसरे से दूर या विपम होने के कारण भी अशान्त है, अतः प्रसाद इनका भी समन्वय या इनकी समरसता चाहते हैं—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों हो पूरी मन की।
एक-दूसरे से न मिल सकें यह विडम्बना है जीवन की।

वैयक्तिक जीवन की भाँति ही सामाजिक जीवन में भी समरसता का

अभाव प्रसाद को खटका। अधिकारी और अधिकृत मे समरसता स्थापित करने के रूप में इस ओर भी उन्होंने संकेत किया है—

समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

यह तो संकेत-मात्र है। प्रसाद कहना यह चाहते हैं कि विभिन्न प्रकार के वर्गों (शोषक, शोषित, अधिकारी, अधिकृत, पुरुष-स्त्री आदि) मे भी समरसता होनी चाहिए।

प्रसाद की समरसता का ऊर्ध्वबिन्दु जड़ और चेतन के सामरस्य का है। वे कहते है—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।

यह स्थिति जीव के मुक्त होकर शिवत्व की अनुभूति की है। इस प्रकार प्रसाद की समरसता लोक-परलोक दोनों को रस-सिक्त करती है। समरसता से मनुष्य दोनों लोकों की शान्ति प्राप्त करके पूर्ण बन सकता है।

११

छायावाद

'छायावाद' के प्रवर्त्तक के रूप मे शुक्लजी ने मैथिलीशरण गुप्त तथा मुकुटधर पाण्डेय का नाम लिया है; पर यह गलती 'इन्दु' के अंकों को न देखने के कारण ही हुई है। 'इन्दु' के देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद की सारी विशेषताएँ अपने प्रारम्भिक रूप में प्रसादजी में बहुत पहले से ही वर्तमान थीं। उनके आरम्भिक संग्रह 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' में भी इसके स्पष्ट चिह्न है। 'कानन कुसुम' की 'इन्द्रधनुष' और 'प्राभातिक कुसुम' आदि रचनाएँ तो बिलकुल ही छायावादी है। 'झरना' में आकर प्रसाद का 'छायावादी' रूप बहुत स्पष्ट हो गया है और 'आँसू' तो 'छायावाद' की सारी विशेषताओं का प्रायोगिक कोष ही है। छायावादी प्रसाद की प्रौढ़तम कृतियाँ 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' है। 'कामायनी' 'छायावाद' का प्रथम और अन्तिम 'महाकाव्य' है।

इस प्रकार प्रसाद के साथ छायावाद का जन्म तो हुआ ही, उसको प्रौढ़तम बिन्दु पर ले जाने का श्रेय भी उन्हीको है। ऐसी स्थिति में वे निश्चय ही छायावाद के प्रवर्त्तक, प्रतिष्ठापक और उन्नायक है। उनके काव्य में इस आन्दोलन की सभी प्रवृत्तियाँ ही उपलब्ध नहीं होतीं, अपितु इस नई काव्य-धारा की वास्तविक रूप-रेखा और उसके अन्तर्वर्ती मूल स्वरूप को परिस्फुट करने में उन्हींका प्रमुख हाथ है। छायावाद का आन्दोलन साहित्य के अन्तर्गत 'रूप' और 'वस्तु'-सम्बन्धी कुछ विशिष्ट मान्यताओं और प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित अवश्य करता है, किन्तु अपने वास्तविक रूप में वह एक व्यापक जीवन-दृष्टि का साहित्यिक प्रतिफलन है। दूसरे शब्दों में वह मात्र नई काव्य-धारा अथवा साहित्य-धारा का पर्याय न होकर नई जीवन-धारा का पर्याय है इसलिए केवल काव्य अथवा साहित्य की सीमित परम्पराओं और मर्यादाओं के बीच

रखकर उसका मूल्यांकन करने का अर्थ है उसकी, प्राणगत महिमा का अवमूल्यन करना। प्रसाद के साहित्य में (केवल काव्य में नहीं) जिस नूतन जीवन-दृष्टि का उन्मेष है, वह किसी भी प्राचीन दर्शन से आविष्ट क्यों न हो अपने मूल रूप में छायावाद के उसी व्यापक जीवन-दर्शन को प्रतिबिम्बित करती है जो एक विशेष युग में व्यापक रूप से सम्पूर्ण समाज का दर्शन बन गया था। छायावाद की रोमाण्टिक चेतना उस दर्शन की आधार-भित्ति है। इसी चेतना के विविध रूपों की अभिव्यक्ति 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी आदि की रचनाओं में विभिन्न मात्राओं और अनुपातों में हुई। यह प्रवृत्ति आकस्मिक अथवा वैयक्तिक नहीं थी; इसका एक निश्चित सामाजिक आधार था; जिसका विचार इस प्रसंग में अत्यावश्यक है।

ऊपर कहा गया है कि छायावाद एक व्यापक जीवन-दृष्टि का साहित्यिक प्रतिफलन है। यहाँ यह बताने की आवश्यकता है कि काव्य के माध्यम से ही उस 'दृष्टि' की अभिव्यक्ति अधिक हुई, अन्य विधाओं के माध्यम से कम। लेकिन उपन्यासों, कहानियों, नाटकों आदि के माध्यम से वह जिस मात्रा में और जितनी सशक्तता के साथ प्रकट हुई उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उससे यह तो प्रमाणित होता ही है कि नई चेतना ने अपना प्राण-पोषक रस सम्पूर्ण जीवन से आकर्षित किया था, किन्तु साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि काव्य द्वारा उसका जो भाग अकथ्य रह गया वह अन्य शैलियों में भी आकार ग्रहण कर सका। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'छायावाद' शब्द का 'अर्थ-विस्तार' होने की आवश्यकता है (किसी सीमा तक वह हो भी चुका है) और उसमें रोमांटिक चेतना के सभी पहलुओं को सूचित करने वाला अर्थ-गौरव आ जाना चाहिए। और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहें तो कह सकते है कि हिन्दी के तद्‌युगीन कथा-साहित्य ने जो नूतन भाव-प्रवण रोमाण्टिक चेतना विकसित और प्रकाशित की उसकी अभिधा भी यदि 'छायावाद' हो सके तो अधिक समीचीन होगा।

'छायावाद' शब्द की अर्थ-सीमा चाहे जो हो, प्रस्तुत प्रसंग में मुख्य विचारणीय बात यह है कि उक्त चेतना की सामाजिक अथवा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी और कितनी मात्रा तक वह कवियों की आत्मगत प्रवृत्तियों द्वारा रूपान्तरित हुई। अपने सामाजिक विकास को देखने से स्पष्ट है कि सामन्ती व्यवस्था को ध्वस्त होने और नई पूँजीवादी व्यवस्था को प्रतिष्ठित होने में कुल सौ वर्षों का समय लगा। यदि विकास के विभिन्न सोपानों को लक्षित किया जाय, और हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों की भाषा में ही बात की

जाय तो कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग मे पुरानी समाज-व्यवस्था के सुश्रृङ्खलित नियमो और आचार-विचारों के ऊपर नई समाज-व्यवस्था के सुश्रृङ्खलित नियमों एवं आचार-विचारो की पहली प्राण-प्रतिष्ठा हुई। किन्तु जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में सामन्तवादी उत्पादन और वितरण का आधारभूत ढाँचा किसी-न-किसी रूप में बना ही रह गया उसी प्रकार आचार-विचार के क्षेत्र मे भी अवशेष प्रायः संस्कारों की प्रभु-सत्ता बनी रही। द्विवेदी-युग में नई परिस्थितियों के बीच प्राचीन व्यवस्था के ऊपर दूसरा प्रहार हुआ और उसमें केवल प्राचीन के खण्डन का ही नहीं अपितु स्वपक्ष के मण्डन का भी संगठित आयोजन था। भारतेन्दु युग में विशुद्ध रोमाण्टिक चेतना का प्रथमोच्छ्वास व्यक्त हुआ और द्विवेदी-युग में प्राचीन पौराणिक कथाओं का पुनराख्यान करके नवोदित बौद्धिकता पर शान चढ़ाई गई। दोनो ही युगो मे, औद्योगिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली नई संस्कृति का आवेगपूर्ण समर्थन हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि सामंती जीवन-मूल्य सदा के लिए ध्वस्त हो गए और केवल प्रतिगामी शक्तियाँ ही यदा-कदा उनका पोषण करती रहीं। किन्तु पूँजीवाद के पूर्ण भौतिक वैभव एवं आत्ममूलक अन्तःसौदर्य का साक्षात्कार उक्त दोनों युगों के नेता, व्यवस्थापक विचार एवं सौन्दर्य द्रष्टा कलाकार न करा सके। उसके लिए एक नये आघात की अपेक्षा थी और और देश के बढ़ते हुए औद्योगिक विकास ने उसे भी सम्भव बनाया। द्विवेदी-युग के अन्तिम छोर तक पहुँचते-पहुँचते यह आघात भी घटित हो गया और उसकी साहित्यिक प्रतिक्रिया के रूप में 'छायावाद' का जन्म हुआ। अपने व्यापक रूप में छायावाद उस नव्य जीवन-दर्शन का पर्याय है जो द्विवेदी-युग के समाप्त होने के पूर्व ही पूँजीवाद के तृतीय आघात के फलस्वरूप नई परिस्थितियों में स्वतः ही उत्पन्न हो गया था। हिन्दी साहित्य के इस त्वराशील विकास को यदि अंग्रेजी साहित्य के समकक्ष रखें तो, मोटे तौर पर, भारतेन्दु-युगीन चेतना का शेक्सपियर के युग से द्विवेदी-युगीन चेतना का मिल्टन आदि के क्लासिकल पुनर्जागरण से और 'छायावाद' का रोमाण्टिक पुनर्जागरण-काल से प्राणगत साम्य मिल सकता है। किन्तु दोनों देशों की राजनीतिक स्थितियों तथा सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों में जो मूल अन्तर है उसके कारण, इस साम्य को निश्चित सीमा के भीतर ही ग्रहण करना चाहिए।

छायावाद की उक्त ऐतिहासिक स्थिति को स्पष्ट कर लेने के बाद यह जान लेना सहज है कि उसकी मूल चेतना में 'व्यक्तिवादिता' का इतना अधिक प्राधान्य क्यों है। जैसा रूसो के उस प्रसिद्ध वक्तव्य से प्रकट है, पूँजीवाद ने

अपने विकास की चरमावस्था मे यह अनुभव किया कि मूलतः स्वतन्त्र होते हुए भी व्यक्ति सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है। रोमाण्टिक चेतना व्यक्ति की मुक्ति-कामना का ही दूसरा रूप है। इस कामना की सामाजिक भूमिका यह है कि पूँजीवादी विकास की पराकाष्ठा में व्यक्ति और समाज के बीच प्रत्यक्ष, स्थूल या प्राणवान् सम्बन्ध नही रह जाते, बल्कि द्रव्य-शक्ति की सूक्ष्मता एवं व्यापकता तथा औद्योगिक विकास के फलस्वरूप, मानव-मानव के बीच अनेक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना हो जाती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि समाज के विराट् एवं सर्वशक्तिमान यन्त्र के भीतर वह एक असहाय पुर्जा-मात्र है और उसके चारों ओर का वातावरण भयानक जड़ता से आक्रान्त है। इसी जड़ता की घुटन से बचने के लिए वह आवेगपूर्ण प्रयास भी करता है और असहाय आर्त्त-चीत्कार भी। वह मनुष्य और मनुष्य के बीच स्वस्थ मांसल सम्बन्ध की कामना करता है। उक्त मुक्ति-कामना का वास्तविक प्रगतिशील रूप यही है। यह समझना भूल होगी कि छायावाद के भीतर व्यक्तिवादिता सर्वत्र समाज के विरोध में ही प्रतिष्ठित रही है। यह वास्तव में समाज के उन नियमों के विरोध में प्रकट हुई जो मनुष्य के पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों को जड़ता के आवरण में छिपाते जा रहे थे।

'प्रसाद' की कविताओं में भी 'व्यक्तिवाद' का स्वर सुनाई पड़ता है और उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि भी उक्त सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है। झरने का शीतल, मृदुल और तरल जल कठोर, निर्जीव शिलाओं के संघात को तोड़कर और कभी-कभी अवसर के अनुकूल अपने-आपको मोड़कर बहने का प्रयास करता है। वह व्यक्ति की मुक्त चेतना का वास्तविक प्रतीक है। 'आँसू' में उक्त जड़ यान्त्रिकता के बीच घुटन का अनुभव करने वाले विवश हृदय की ही आर्त्त पुकार है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि जीवन की 'रागात्मकता' से ही वियुक्त होकर विरहानुभव में लीन हो गया हो। 'कामायनी' के मनु इसी जड़ यान्त्रिकता के प्राण-शोषी वातावरण में क्षत-विक्षत हो जाते है।

किन्तु यह तो छायावाद की मुक्ति-कामना का केवल एक पक्ष ही है। इसमें व्यक्ति ने सामन्ती नैतिकता और जड़ परम्पराओं से मुक्ति माँगी थी। यही मुक्ति साहित्य के भीतर नूतन मर्यादाओं के ग्रहण करने में भी दिखाई पड़ती है। छन्दों के बन्धन के प्रति निर्मम आक्रोश और प्राचीन शास्त्र-विधानों के उल्लंघन अथवा अवहेलना में भी इसी कामना का प्रसार है। रोमाण्टिक चेतना के साथ स्वतन्त्रता की यह व्यापक भावना लगी ही रहती

है। किन्तु छायावादी कवि जिस देश मे पल रहा था वह राजनीतिक दृष्टि से पराधीन था। अपने को स्वतन्त्र करने के लिए उसने एक ऐसे राष्ट्रीय-सग्राम का भी आयोजन कर रखा था जो नित्य-प्रति उग्रतर होता जा रहा था। ऐसे क्षुब्ध परिवेश की रोमाटिक चेतना विशुद्ध राष्ट्रीय उद्‌बोधन से कैसे न समन्वित होती ? 'प्रसाद' के काव्य में मुक्ति-कामना का यह राष्ट्रीयता-समन्वित रूप प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विद्यमान है। उनके नाटकों में तो यह सर्वत्र छाया हुआ है, उनके अनेक गीतों मे भी इसका प्राणमय उन्मेष हुआ। अंग्रेजी के रोमाटिक काव्य में इसका लेश भी नहीं है। वह विशुद्ध रूप से, पूँजीवादी संस्कृति के अभ्युत्थान के एक विशेष युग की साहित्यिक प्रतिक्रिया को ही रूपायित करता है। इस दृष्टि से छायावाद का उत्तरदायित्व दोहरा (यानी सूक्ष्म-स्थूल दोनों) था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने दोनों को अत्यन्त सफलता पूर्वक निभाया।

रोमाण्टिक चेतना की एक अन्य विशेषता है सौन्दर्य के प्रति अहैतुक अनुराग और असीमित उल्लास का भाव। यह तो कवि की अपनी निजा प्रवृत्ति और संस्कार-गत धारणाओं के ऊपर निर्भर करता है कि वह किस सीमा तक उस अनुराग में लिप्त हो और किस रूप में उसे अभिव्यंजित करे किन्तु उसकी प्रवृत्ति सौन्दर्योन्मुखी अवश्य होगी। कुछ कवियों में उसकी सूक्ष्म, अशरीरी और वायवी धारणा होती है—उसकी ओर बढ़ने में वे कुछ लज्जालु और शंकाशील तक दिखाई पड़ते हैं। उसके चित्रण में अक्सर वे अन्तर्मुखी हो जाते है। अंग्रेजी में शैली और हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दोनों ही सौन्दर्य के आसव के अभिलाषी है, किन्तु उसकी उन्मादना से बहुत दूर रहना चाहते हैं। किन्तु अंग्रेजी में कीट्स, हिन्दी में 'प्रसाद' और बंगला में रवीन्द्र सौन्दर्य के विभिन्न-वर्णी मादक चित्रों के निर्माण में ही अधिक तल्लीन रहने वाले थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों में सौन्दर्य की उन्मादना के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक आकुलता भी है, किन्तु कीट्स और 'प्रसाद' में उसका ऐन्द्रिक स्पर्श ही प्रधान है। 'प्रसाद' ने तो अनेक स्थलों पर 'सौन्दर्य' को ही मानवीकरण द्वारा अत्यन्त गोचर और उन्मादक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—

नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस-कन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य ! बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

जीवन के सिद्ध-पक्ष अथवा उपभोग-पक्ष की मादकता को पाठकों के

ऊपर फैला देने वाला निम्नस्थ चित्र प्रायः अविस्मरणीय है—

वह अनंग-पीड़ा अनुभव-सा अंग-भंगियों का नर्तन।
मधुकर के मरंद उत्सव-सा मदिर भाव से आवर्त्तन॥

छायावाद की यह शृङ्गार-भावना स्वस्थ रोमाण्टिक चेतना का परिणाम है। यह पतनशील सामन्ती शृङ्गार के ऊपर नवोदित पूँजीवादी शृङ्गार-भावना की विजय का स्मारक है। हिन्दी की रीतिकालीन शृङ्गारिकता की तुलना में छायावाद की शृङ्गारिकता इसी कारण अधिक स्वस्थ और प्राणवान है।

पाठक यह अनुभव करेंगे कि छायावाद के भीतर वेदना और रुदन का प्राधान्य रहा है। 'प्रसाद'-लिखित 'आँसू' द्वारा इस वेदना का समुचित प्रतिनिधित्व भी हुआ है। देखना यह चाहिए कि इस वेदना की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है। यह कहने से अब हमारा काम नही चल सकता कि महादेवी की वेदना का मूल कारण बौद्धों का दुःखवाद है और प्रसाद की वेदना केवल उनकी किसी निजी घटना का ही परिणाम थी। महादेवी पर दुःखवाद का प्रभाव अवश्य था और 'प्रसाद' की मनोव्यथा के पीछे कोई निजी घटना भी हो सकती है, किन्तु वह सब केवल सहायक उपादान-मात्र हैं। मूल प्रेरणा तो तत्कालीन परिवेश में ढूँढ़ी जानी चाहिए। हम ऊपर कह आए है कि रोमाण्टिक चेतना में जीवन का नवोन्मेष ही प्रधान रहता है। प्रारम्भिक छायावादी रचनाओं में इस चेतना का यही रूप दिखाई भी पड़ता है। 'प्रसाद' के 'झरना', 'प्रेम-पथिक', 'कानन-कुसुम' आदि संग्रह इसी चेतना से दीप्त हैं—किन्तु 'आँसू' मे व्यथा और पीड़ा का सागर ही उमड़ पड़ा। इसका मुख्य कारण यह था कि विदेशी शासन की छत्रछाया में भारत का औद्योगिक विकास अत्यन्त अस्वाभाविक तीव्रता के साथ होता चल रहा था और उसीके समानान्तर नूतनतर जीवन-मूल्यों की सत्वर प्रतिष्ठापना भी होती जा रही थी। इस तीव्रता के साथ अपनी मानसिक संगति बिठाते चलना सब समय सम्भव नहीं था। इसलिए अन्तर्बाह्य जीवन का वैषम्य प्रतिक्षण उभरता जाता था। छायावाद के कवि ने सामन्ती जीवन-मूल्यों और मर्यादाओं को उपेक्षित ठहराकर जिन नव्य जीवनादर्शों को प्रतिष्ठित करने का आत्मसंकलन किया था वह देखते-ही-देखते चकनाचूर हो गया। तीव्र युग-प्रवाह ने नूतन आवर्त्तों की सृष्टि कर दी और भावुक प्राणियों ने स्वय को विषम परिस्थिति में उलझा हुआ देखा। उनकी यही परिस्थिति-जन्य स्थूल वेदना मानसिक व्यथा के रूप में ढलकर अभिव्यंजित हुई। 'आँसू' की वेदना का प्रमुख आधार भी यही है।

किन्तु इसके साथ-साथ वेदना और निराशा को उत्पन्न करने वाला एक दूसरा उपादान भी हमारे समाज के बीच विद्यमान रहा है। स्वातन्त्र्य-संग्राम की अनेक बार की असफलताएँ भी विलम्बमयी व्यथा का सृजन करती रही। परतन्त्रता की भावना एक दुर्वह बोझ बनकर तरुण भावुकों को सदैव ही पीड़ित करती रही। यह असम्भव है कि पराधीनता-जन्य भावनाओं का प्रभाव हमारे जीवन और काव्य पर न पड़े, किन्तु इसके साथ-ही-साथ उस प्रभाव का समुचित आकलन भी सहज सम्भव नही। 'प्रसाद' के 'आँसू' अथवा अन्य वेदनामूलक कविताओं मे कौन-सी सामाजिक पृष्ठभूमि अधिक उभरी हुई है, यह ठीक-ठीक नही बताया जा सकता, किन्तु उभार दोनों का है, यह अनुमान अत्यन्त सहज है।

वेदना और निराशा के स्वरों से यत्किंचित् सम्पृक्त होने पर भी छायावाद की आन्तरिक प्राण-चेतना स्वस्थ आस्थावादी स्वरों से गुञ्जित है। वह जीवन के प्रति अनुराग और विश्वास उत्पन्न करने वाला काव्य है। उसकी वेदना और निराशा प्रासंगिक एवं आनुषंगिक है। विश्वास का भाव ही उसका शाश्वत भाव है। प्रसाद के काव्य में भी विश्वास एवं अनुराग का यह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है।

छायावाद की रोमाण्टिक चेतना आध्यात्मिकता से भी अनुप्राणित रही है। इसमे सन्देह नही कि आध्यात्मिकता के ऊपर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं अन्य प्रतिभाशाली महाकवियों का प्रभाव था; किन्तु केवल प्रभाव कहकर इसको ठीक-ठीक समझा-समझाया नही जा सकता। इसका भी एक निश्चित सामाजिक आधार है। वस्तुतः जिन परिस्थितियों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर में आध्यात्मिकता और रहस्यमयता की ओर रुझान उत्पन्न किया था। उन्हींके द्वारा लगभग बीस वर्ष बाद छायावादी काव्य भी प्रभावित हुआ। वह केवल 'फैशन' अथवा 'अभिनय' नहीं था। बात यह थी कि औद्योगिक विकास के साथ-साथ द्रव्य की प्रच्छन्न शक्ति बढ़ती चली गई और धीरे-धीरे सभी सामाजिक सम्बन्धों को उसने आच्छन्न कर लिया। संसार का प्रत्येक पदार्थ व्यापार की 'वस्तु' बन गया, जो कुछ पैसों से खरीदा जा सकता था। केवल पदार्थों के ही नही मनुष्य के आन्तरिक उदात्त गुणों का भी अवमूल्यन हो गया और उन्हें द्रव्य के पैमाने से ही नापा जाने लगा। नैतिकता और सदाचार भी द्रव्य की तुला पर ही आ विराजे। द्रव्य की इस परोक्ष किन्तु सूक्ष्म, प्रभावशालिनी रहस्यमयी सत्ता ने अज्ञात रहस्यमय लोक के निर्माण का मार्ग स्वच्छ किया। 'क्षितिज के उस पार' किसी अज्ञात मनोरम जगत् की परिकल्पना एक मधुर

रहस्यात्मक अनुभूति से सम्पृक्त होकर सर्वत्र छा गई। और जिस प्रकार द्रव्य की स्थूल सत्ता निरर्थक और निस्सार (एक कागज के टुकड़े के रूप में) थी उसी प्रकार उस अज्ञात लोक का रहस्य भी कभी परिस्फुट न हो सका। इस कल्पना-लोक में पलायन करके भावनाशील प्राणी बहुधा शान्ति और आनन्द का अनुभव करते थे।

इस आध्यात्मिकता को पूर्णतः भक्तिमूलक सकारात्मक भावना मानना कदापि उचित नही कहा सकता। कवियों की किसी अन्तर्वर्ती प्रेरणा ने स्वाभाविक रूप से उन्हें ब्रह्म की उपासना की ओर नही ढकेला था। वह एक क्षणिक विश्राम-मात्र था जहाँ से लौटकर कवि पुनः जीवन-संग्राम मे रत हो जाता था। 'प्रसाद' की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता भी इसी प्रकार की थी। उनकी आस्था अध्यात्म-लोक में उतनी नहीं जितनी इस लोक में थी।

रोमाण्टिक काव्य-चेतना में नूतन मानवतावाद का स्वर भी मिला हुआ था। सम्पूर्ण विश्व में मानवत्व की एक विराट् चेतना अन्तर्निहित है, इस बात का बोध छायावादी कवियों के भीतर अत्यन्त प्रबल था। इसीलिए उन्होंने व्यापक मानवीय संवेदना का परिचय दिया। पन्त ने **'मानव तुम सबसे सुन्दरतम'** कहकर सृष्टि के बीच मनुष्य की महिमा को ही प्रतिष्ठित करना चाहा है। 'कामायनी' में मनु और उनके पुत्र मानव की संघर्षमयी जय-गाथा ही अंकित की गई है। 'प्रसाद' का सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य मनुष्य के संघर्ष-प्राण दुर्दम व्यक्तित्व के उभारने का ही प्रयास है।

नारी की सामाजिक स्थिति को पूँजीवाद ने सामन्त युग की अपेक्षा अधिक गौरवान्वित और श्रद्धास्पद बनाया। बौद्धिक साधनों की प्रबलता और शारीरिक शक्ति की अनुपयोगिता ने सामाजिक उत्पादन में पुरुष-नारी को समकक्ष बनाया और तदनुरूप केवल दाम्पत्य-क्षेत्र में ही नही अपितु अन्य क्षेत्रों में भी नारी ने अपने स्वत्वों को पहचानने और अपनाने का प्रयास किया। पन्त ने **'देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण।'** कहकर उसके अनेकमुखी व्यक्तित्व की अभ्यर्थना की। प्रसाद ने भी प्रेमभाव को उसी उदात्त रूप मे ग्रहण किया। 'कामायनी' मे श्रद्धा को जो गौरव और महत्त्व प्राप्त हुआ है वह इसी भावना का परिणाम है, किन्तु स्त्री जाति की मज्जागत कोमलता एवं उत्सर्ग भावना को वे सदैव उसके साथ लिपटी रहने वाली ही मानते है, इसीलिए उन्होंने कहा है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।

रोमाण्टिक चेतना स्वभावतः ही विद्रोहमयी होती है। छायावाद में भी विद्रोह का स्वर काफी ऊँचा है किन्तु कवियों की वैयक्तिक प्रवृत्तियों के अनुरूप उसकी ऊँचाई घटती-बढ़ती रही है। 'निराला' में उसका उच्चतम रूप है और महादेवी में क्षीणतम। 'प्रसाद' में वह अत्यन्त सुकुमार एवं मृदुल वाणी में व्यक्त हुआ है। प्रश्न है कि यह विद्रोह मूलतः किसकी ओर प्रेरित है। उत्तर है कि सामन्ती व्यवस्था और आचार-विचार एवं परम्पराओं के प्रति। वास्तव में प्राचीन संस्कृति के प्रति यह नई संस्कृति का विद्रोह है जो छायावाद में अनेक प्रकार से व्यक्त हुआ।

ये बातें थीं भाव और विचार-क्षेत्र की। इसीसे सम्बद्ध प्रकृति के प्रति कवियों का नूतन दृष्टिकोण भी है, जिसमें उसे अधिक सजीव तथा बिलकुल मानव-रूप में देखा गया है। प्रसादजी में भी इस नूतन प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति मिली है। यह भी एक प्रकार से स्थूल के प्रति विद्रोह ही था। कला के क्षेत्र में भी इन्हीं सबकी प्रेरणा से विद्रोही स्वर सुनाई पड़ा और नवीन मुक्त छन्दों, सूक्ष्म सौन्दर्य और संकेत से युक्त मानवीकरण विशेषण-विपर्यय, अमूर्त्त का मूर्त्त या मूर्त्त का अमूर्त्त विधान आदि नवीन अलंकारों तथा लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता आदि के द्वारा अभिव्यंजना में एक नया आकर्षण आ गया। प्रसाद में भी ये सारी विशेषताएँ अपने सुन्दरतम रूप में वर्तमान हैं और उनका उल्लेख यथास्थान किया गया है।

१२

रहस्यवाद्

पीछे छायावाद पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि छायावादी कविताओं में भी कुछ आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी स्पर्श मिलते है। उनके मामाजिक कारण का भी वहाँ उल्लेख हुआ है। आधुनिक कविता में रहस्यवादी भावना के पीछे उसके अतिरिक्त कुछ और कारण भी कार्य कर रहे है। उनमें सबसे बड़ी बात तो है 'गीताञ्जलि' का पुरस्कृत होना। 'गीताञ्जलि' कबीर तथा उपनिषदों के रहस्यवाद से प्रभावित थी। उसके पुरस्कृत होने पर उसका हिन्दी-क्षेत्र में प्रचार अधिक बढ़ा और साथ-साथ उसकी रहस्यवादी भावना भी प्रचलन में आई। पर इन दोनों बातों के साथ यह भी मानना ही पडेगा कि भारत की धर्म और दर्शन-प्रवण भूमि में रहस्य-भावना के संकेत अत्यन्त प्राचीन काल से मिलते हैं और ऋग्वेद, आरण्यक तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, आगमों, बौद्धों के महानु सम्प्रदाय के ग्रन्थों एवं कबीर आदि में होते यह धारा आधुनिक काल पर आई है। इन तीनों बातों ने मिलकर उस युग के काव्य में रहस्यवादी भावना की एक धारा-सी बहा दी और अनेकानेक कवियों ने उसमें अपना योगदान दिया। प्रसाद भी उन्हींमें से एक थे। पर उस काल के कवियों में भी रहस्यवाद के सच्चे स्पर्श सभी में नही हैं। जिन लोगों ने अपनी लौकिक भावनाओं का उदात्तीकरण करके उस प्रवृत्ति और सत्ता की अनुभूति की उनमें तो उसका सच्चा काव्यात्मक रूप है, जिनमें प्रवृत्ति के अनुकरण के आधार पर केवल शाब्दिक रहस्यवाद ही है। कुछ कवियो ने काव्य में व्यक्त तो कीं अपने शुद्ध लौकिक जीवन की प्रेम और शृंगारपरक बातें, पर स्वीकारोक्ति के लिए अपेक्षित हिम्मत की कमी के कारण चार-छः रहस्यवादी शब्दों को जटित करके अपनी कविता में रहस्यवादी संकेत दे दिया।

ये सारी बातें और कारण इतने मिले-जुले हैं कि कवियों, प्रमुखतः

प्रसाद-जैसे बडे कवियों—जिनमें भाव की अतुल गहराई है—के काव्य को लेकर इनका स्पष्ट संकेत करना असम्भव-सा है ।

इस दृश्य जगत् के पीछे जो रहस्य या छिपी विराट् सत्ता है, उसीके प्रति व्यक्त कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है । इसकी परिभाषा विभिन्न आचार्यो तथा बिद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है । महादेवी जी 'अपनी सीमा को असीम तत्त्व मे खो देने' को रहस्यवाद कहती है तो प्रसाद 'अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय कर देने' को रहस्यवाद मानते है । शुक्लजी के अनुसार चिन्तन के क्षेत्र मे जो अद्वैतवाद है, वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है । 'रहस्यवाद' की कोई सर्वस्वीकृत परिभाषा अभी तक नही बनी । भिन्न-भिन्न लोगों ने इसे भिन्न-भिन्न कोणों और भिन्न-भिन्न चश्मों से देखा है । प्रसाद का रहस्यवादी काव्य उनकी अपनी परिभाषा के ही अनुसार है, और ऐसा होना स्वाभाविक भी है ।

प्रसाद मे रहस्यवाद के स्पर्श प्रारम्भ से ही मिलते है । उसका प्रारम्भिक रूप उनके 'चित्राधार' में जिज्ञासा और सर्वात्मवाद के रूप मे खोजा जा सकता है । 'चित्राधार' की प्रकृति-विषयक कविताओं मे कहीं-कही जिज्ञासा के भाव है ।

जिज्ञासा, वास्तव में, एक बौद्धिक क्रिया है । जैसा शैण्ड तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने निर्दिष्ट किया है, उसके जागरण-काल में आश्चर्य का भाव शमित हो जाता है । किसी विराट्, विलक्षण या असाधारण रूप या व्यापार के अचानक सम्मुख आ जाने पर आश्चर्य का भाव ही पहले जगता है और वह व्यक्ति को आत्म-विभोर बना देता है । उस समय विराट्ता या असाधारणता के प्रति मधुर रहस्यात्मक अनुभूति भी जग उठती है । तदुपरान्त धीरे-धीरे बौद्धिक सजगता का सूत्रपात होता है और उसी अनुपात में आश्चर्य का उद्वेलित भाव भी शमित होने लगता है । भाव-प्रवण कवियों के भीतर वह भावनात्मक स्थिति ही अधिक विलम्बमयी बनकर छाई रहती है । 'प्रसाद' की उक्त कविताओ मे भी उस मधुर भावनाभूति की ही व्यञ्जना हुई है ।

तारागन क्यों गगन में हँसत मंदहि मंद ।

इसके साथ ही भक्तिपरक कविताओं मे सर्वात्मवाद भी है, जिसे एक प्रकार से जिज्ञासा का उत्तर भी कहा जा सकता है—

जो सर्व व्यापक तऊ सबसे परे है । जो सूक्ष्म है पर तऊ वसुधा भरे है ॥

'कानन कुसुम' में भी ये दोनों बातें हैं । **'गा रहे है विहंगम किसके आने की कथा'** में जिज्ञासा है, तो **'तुम्हारी स्मित हो जिसे निरखना, वो देख सकता है**

चन्द्रिका को' में उसके प्रकृति में छिपे होने का भाव। पर, यहाँ इस पथ पर एक तीसरी विशेषता आ गई है, और वह यह कि कवि कुछ कविताओं में 'लौकिक' के आधार पर 'अलौकिक' की ओर बढ रहा है। 'मर्म कथा' इसी प्रकार की रचना है। इसकी कुछ रहस्यवादी रचनाओं मे 'गीताजलि' का भी स्पष्ट प्रभाव है। जैसे—

देखकर हम खोज लेंगे तुम रहो चाहे कहीं।

'प्रेम पथिक' मे प्रकृति मे जिज्ञासा के एकाध संकेत है, पर नाम-मात्र के। हाँ, यहाँ उसकी सर्वात्मवादी भावना बहुत विस्तृत हो गई है—

विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

यहाँ सूफी प्रभाव भी है—

उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व-मात्र मे छाई है।

'झरना' में आकर प्रसाद का रहस्यवाद और भी उभर आया है और जैसा कि 'झरना' पर विचार करते समय पीछे कहा जा चुका है, इसमें जिज्ञासा, प्रेम की प्राप्ति, मिलन की प्रतीक्षा, दर्शन और मिलन-जैसी रहस्यवाद की कुछ क्रमिक स्थितियों के भी दर्शन होते हैं। इनमें 'जिज्ञासा' को छोड़कर अधिकांश स्थितियाँ मूलतः कदाचित् लौकिकता पर आधारित है और उदात्तीकरण या अन्य कारणों से उनमें रहस्यवादी भावनाओ की दीप्ति आ गई है। रहस्यवाद के क्षेत्र में इश्क-मजाज़ी से हक़ीकी की ओर जाना कोई नई चीज़ नहीं है। सामी रहस्यवाद का अधिकांश इसी पर आधारित है।

'आँसू' का प्रथम संस्करण तो पूर्णतः लौकिक था, पर दूसरा यत्र-तत्र रहस्यवादी हो गया है। स्पष्ट है कि दूसरे संस्करण में आरोपित रहस्यवाद प्रकृत नहीं माना जा सकता। यों जो रहस्यवादी स्पर्श हैं, बहुत सुन्दर है।

'लहर' में 'झरना' के रहस्यवादी कवि का ही और रूप है। इसके कुछ प्रणय-गीतों और प्रकृति-विषयक रचनाओं मे रहस्यवादी छीटे है। पीछे 'लहर' प्रसंग मे इस पर विचार किया जा चुका है।

'कामायनी' भी रहस्यवादी संकेतों से खाली नही है, पर हैं मात्र संकेत ही। प्रबन्ध-काव्य में इससे अधिक गुञ्जाइश भी नही हो सकती।

जैसा कि अपनी परिभाषा मे प्रसादजी ने संकेत किया है उनमें रहस्य के भाव अपरोक्ष की अनुभूति, समरसता और प्रकृति के सौन्दर्य इन तीनों के द्वारा उभरे है, और इन्हीं आधारों पर अन्त में अहं का इदं से समन्वय करके उन्होंने चिरमिलन की प्राप्ति की है। 'जिज्ञासा की भावना' अपरोक्ष की अनुभूति के मूल में है। यह एक विचित्र बात है कि अपरोक्ष की अनुभूति होने पर

भी जिज्ञासा के भाव किसी-न-किसी रूप में प्रसाद में अन्त तक है ।

प्रसाद में आद्यन्त जो रहस्यवादी भाव प्रकट हुए है उन्हें क्रम से कुछ प्रमुख वर्गों में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(क) सत्ता के प्रति जिज्ञासा,[१] (ख) सत्ता का महत्त्व-प्रदर्शन तथा उसके प्रति प्रेम,[२] (ग) दर्शन तथा मिलन का प्रयत्न,[३] (घ) विरह-प्रसूत वेदना की विकृति,[४] (ङ) सत्ता का आभास या अनुभूति,[५] (च) मिलन[६] ।

---

[१] सिर नीचा कर किसकी सत्ता, सब करते स्वीकार यहाँ ।
सदा मौन हो प्रवचन करते, जिसका वह अस्तित्व कहाँ ।।
'चित्राधार' तथा 'कानन कुसुम' आदि में इस प्रकार की पंक्तियां पर्याप्त हैं ।

[२] किसका था भ्रूभंग प्रलय-सा, जिसमें ये सब विकल रहे ।
तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पाते हैं ।

[३] सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ, बनकर रहस्य हैं नाच रहीं ।
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जांच रहीं ।

× × × ×

सब कहते हैं खोलो खोलो, छवि देखूँगा जीवन धन की ।

[४] सुनो प्राणप्रिय हृदय वेदना विकल हुई क्या कहती है ।
तव दुःसह यह विरह रात-दिन जैसे सुख से सहती है ।

[५] 'कानन कुसुम' की 'प्रभो' कविता ।

[६] इस हमारे और प्रिय के मिलन से,
स्वर्ग आकर पृथ्वी से मिल रहा ।

१३

नियतिवाद्

पीछे 'कामायनी' पर विचार करते समय दर्शन के प्रसंग में कहा जा चुका है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ३६ तत्त्व माने गए है, जिनमें एक नियति भी है। यह शिव की शक्ति है जो संसार का नियमन करती है। षट कञ्चुकों में इसका भी स्थान है।

प्रसाद का नियतिवाद इसी नियति पर आधारित है। नियतिवादी विचार-धारा के उल्लेख प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं में भी मिलते हैं। 'प्रेथ पथिक' का पहले दुःखान्त, और फिर सुखान्त नियति के ही चक्र का परिणाम है। 'आँसू' में स्पष्टतः उन्होंने विरह-मिलन या सुख-दुःख को नियति का वरदान माना है। 'कामायनी' मे आकर उनका नियतिवाद और भी उभर आया है। संसार में जो-कुछ भी जहाँ भला-बुरा हो रहा है वह सब नियति का ही कार्य है—

उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे-धीरे।

सुख और मिलन भी उसीसे है—

चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन खेल।
दो अपरिचित से मिलन अब चाहती थी मेल॥

और दुःख, त्रास, भीषणता आदि भी—

इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।

या

नियति विकर्षण मयी त्रास से सब व्याकुल थे।

इस प्रकार नियति संसार की शासिका है। शैव-दर्शन में यह शिव की शक्ति तो कही गई है, पर साथ ही नियति के अन्तर्गत भी शिव के वामदेव, शर्व, भव, उद्भव, वज्रदेह, प्रभु, धाता, क्रम, विक्रम और सुप्रभेद आदि दस रूपों की भी

कल्पना की गई है। इसका आशय यह है कि ये नियति के विभिन्न प्रकार के कार्यों का संचालन करते है।

नियति केवल सांसारिक व्यक्तियों या सीमित आत्मा का ही नियन्त्रण करती है। समरसता प्राप्त करके शिवत्व की अनुभूति करने वाले आनन्दस्थ व्यक्ति पर इसका नियन्त्रण नहीं चलता। इस बात का संकेत प्रसादजी ने 'कामायनी' के 'रहस्य' सर्ग में किया है।

प्रश्न उठता है, क्या भाग्यवाद और नियतिवाद एक ही है। उत्तर है, नहीं। भाग्यवादी अकर्मण्य होकर सब-कुछ भाग्य पर छोड़कर बैठ सकता है, और बैठ भी जाता है, पर नियतिवादी कर्म में लीन रहता है। पर फलाशा की ओर उसका ध्यान नहीं रहता। क्योंकि वह फल को 'नियति' के हाथ में मानता है, पता नही मिले या न मिले। इस प्रकार नियतिवाद गीता की भाँति फलाशा को त्यागकर कर्म में लीन होने की प्रेरणा देता है। कहना न होगा कि जीवन की शान्ति इसी स्थिति मे प्राप्त हो सकती है।

१४

गीति-काव्य

जीवन के एकान्त भावुक क्षणों की गिने-चुने शब्दों में स्वतः-स्फूर्त-लयात्मक अभिव्यक्ति ही गीति है। अनादि काल से मानव-हृदय में ऋतु-मधुर भाव-तरंगों का उत्थान-पतन अविराम गति से होता चला आ रहा है। बाह्य परिवेश के आघात और नियमन से उन तरंगों की क्रीड़ा रूपायित होती रहती है। जब किसी तीव्र आघात के फलस्वरूप मानस-सागर आकुल अथवा उल्लसित हो उठता है तो विषाद या हर्ष से सिक्त होकर फूट उठने वाली वाग्धारा ही बहुधा गीति-काव्य का रूप ग्रहण करती है। भारतवर्ष में 'सामवेद' में इस धारा का मूल खोजा जा सकता है। वहाँ से जयदेव के 'गीत गोविन्द', विद्यापति की 'पदावली' भक्तिकालीन कबीर, सूर, मीरा और तुलसी आदि के काव्य में होती हुई यह धारा भारतेन्दु में; और फिर छायावादी कवियों में आई है। पर इस परम्परा में होने के साथ ही हिन्दी का आधुनिक गीति-काव्य अंग्रेजी तथा बंगला के गीति-काव्य से भी भाव एवं रूप-सज्जा दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित है। इस प्रभाव एवं परम्परा के अतिरिक्त दो और भी बातें है, जिनके कारण आधुनिक युग में गीति-काव्य मात्रा और बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य दोनों ही दृष्टियों से अधिक लिखा मया है। पहली बात तो यह है कि इधर कई सदियों से विषय-प्रधान शब्द का ही प्राधान्य रहा, अतः हमारा हृदय अभिव्यक्त होने के लिए तरस उठा था। आधुनिक विद्रोही युग में विद्रोह करके झरने की भाँति वह स्वतः गीति के रूप मे फूट पड़ा। दूसरे, जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, कई सामाजिक कारणों से इस युग में व्यक्तिवादिता का प्राधान्य हो गया। ऐसी स्थिति में कवियों का यह सोचना ठीक ही था कि यदि राम, कृष्ण, सीता और राधा की बातों को काव्य का विषय बनाया जा सकता है तो अपने हृदय की अनुभूतियों को क्यों नहीं बताया जा सकता।

आधुनिक गीति-काव्य के मूल में ये सारी बातें हैं। आधुनिक गीतिकारों मे प्रसाद का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने यों तो, गीति की रचना अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में ही आरम्भ कर दी थी, पर उसका सुन्दर रूप नाटकों के लगभग १०० गीतों तथा 'झरना', 'आँसू' एवं 'लहर' मे दिखाई पड़ता है। 'कामायनी' का 'इड़ा' सर्ग भी गीति-रूप मे है। इनके कुछ गीति तो चतुर्दशपदियों (सानेट) के रूप में है और कुछ पुराने तथा नये ढंग के गीतों मे।[1]

विषय की दृष्टि से इनके सबसे अधिक गीत प्रेम और श्रृंगार (संयोग और वियोग दोनों) से संबद्ध हैं। शेष में कुछ दार्शनिक, कुछ भक्ति-परक, कुछ प्रकृति-सौन्दर्य-सम्बन्धी और कुछ राष्ट्रीय हैं। प्रेम और श्रृंगार के गीतो में उल्लेख्य **'सँभाले कोई कैसे प्यार'**(राजश्री),**'आज मधु पीले यौवन वसंत खिला'** (विशाख),**'चला है नन्दन वन से पवन रसीला नन्दन कानन का'** (अजात शत्रु), **'संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल न जाना'** (स्कन्द गुप्त), **'तुम कनक किरन के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों'** (चन्द्रगुप्त) तथा **'आह रे वह अधीर यौवन'** (लहर) आदि है। पूरा 'आँसू' भी इसीके अन्तर्गत है। दार्शनिक एवं भक्ति-विषयक गीतों में **'सब जीवन बीता जाता है**···(स्कन्दगुप्त), **'खेल लो नाथ विश्व का खेल'** (कामना) तथा **'चंचल चन्द्र सूर्य है चंचल'** आदि प्रमुख हैं। प्रकृति से बोझिल गीतों मे **'बीती विभावरी जाग री'** (लहर), **'अस्ताचल पर युवती संध्या की खुली अलक घुँघराली है'** (ध्रुव स्वामिनी) तथा 'किरण' (झरना) आदि प्रमुख हैं। राष्ट्रीय गीतों में **'अरुण यह मधुमय देश हमारा'** (चन्द्रगुप्त) तथा **'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से···'** (चन्द्रगुप्त) सुन्दर हैं।

पश्चिमी काव्य-शास्त्र में गीतों के भेदो में दो प्रमुख है। एक तो संबोध-गीति (ode) और दूसरा करुण गीति (elegy)। प्रसाद में ये दोनों ही रूप है। **'तुम कनक किरन के अन्तराल से लुक-छिपकर चलते हो क्यों'** संबोध-गीति है, तो 'आँसू' करुण गीति।

गीति-काव्य में सबसे प्रमुख बात है इतिवृत्त की अत्यन्त न्यूनता और आत्मनिष्ठ भावनाओं का प्राधान्य। इसमें अंतर्जगत् का ही प्रकाशन होता है। प्रसाद के गीतों में यों यह लक्षण प्रायः सर्वत्र किसी-न-किसी रूप में मिलता है। पर उनके प्रेम और श्रृङ्गार के गीतों में यह तत्त्व सर्वाधिक है। 'लहर' की

---

[1] आगे छंद पर विचार करते समय इनके छंद-विधान पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है।

'आह रे वह अधीर यौवन' तथा उनकी आत्म-कथा **'मधुप गुनगुनाकर कह जाता, कौन कहानी यह अपनी'** इसके सुन्दर उदाहरण है।

भावना का ऐक्य भी गीति के लिए आवश्यक है। आशय यह है कि एक गीति मे एक ही भाव को बाँधने का प्रयास होना चाहिए। अधिक भावों को एक गीति में रखने से अन्विति में गड़बड़ी के कारण उसका सौन्दर्य बिखर-सा जाता है और इससे प्रभविष्णुना में कमी आ जाती है। प्रसाद के अधिकांश गीतों मे यह विशेषता भी है। इस प्रकार के उनके श्रेष्ठ गीतों में **'तुम्हारी आँखों का बचपन'** ('लहर') का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें कवि प्रिय की आँखों के भोलेपन पर मुग्ध है। पूरी कविता उसी भाव पर केन्द्रित है।

गीति-काव्य मुक्तक का एक भेद है, अतएव प्रत्येक गीत का स्वतन्त्र और अलग अस्तित्व होना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक गीत को भाव की दृष्टि से पूर्ण होना चाहिए। प्रसाद के सभी गीतों मे यह गुण भी है। 'आँसू' भी इसका अपवाद नही। उसके भी प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र हैं, यद्यपि उसमें एक प्रच्छन्न प्रबन्धात्मकता भी है।

सप्रयास लिखे गए गीत अच्छे नहीं होते। इसके लिए स्वत.स्फूर्त होना आवश्यक है। यथार्थतः श्रेष्ठ गीतों की रचना ऐसे क्षणों में होती है जब कवि भाव के उद्दाम वेग को सँभाल नही पाता और वे अपने-आप फूटकर काव्य के रूप में बह निकलते है। जिसमें इस प्रकार की तीव्र अनुभूति न होगी वह श्रेष्ठ गीति-काव्य की रचना कर ही नहीं सकता। प्रसाद के प्रायः सभी गीत इस विशेषता से भी युक्त है।

गीत का संक्षिप्त होना भी अनिवार्यतः आवश्यक है। ऊपर कहा जा चुका है कि एक गीत में एक ही भाव होना चाहिए। ऐसी स्थिति में एक भाव बहुत बड़े गीत में इतना अधिक बिखर जायगा कि उसकी चुभन समाप्त हो जायगी। एक बात और किसी एक भाव की तीव्रतम अनुभूति देर तक नहीं रहती। अतएव उन आवेशपूर्ण कुछ क्षणों की स्थिति में बहुत बड़ी रचना की भी नहीं जा सकती। प्रसाद के सभी गीत छोटे हैं।

गीति की अंतिम आवश्यकता है, उसका संगीत पूर्ण होना। यों तो कविता-मात्र का संगीत से सम्बन्ध है, मुक्त छन्द भी लयविहीन नहीं होता। पर गीति-काव्य के लिए वह सम्बन्ध और भी आवश्यक है। प्रसाद के गीत इस आवश्यकता से भी पूर्णतः सम्पन्न है।

भावानुकूल भाषा गीति-काव्य के लिए सामान्य काव्य की भाँति ही

सोने में सुगन्ध का कार्य करती है। प्रसाद ने इसका भी पूरा ध्यान रखा है, यों यह गुण तो उनकी पूरी कविता में है।

इस प्रकार प्रसाद के गीति-काव्य में उसके सभी तत्त्व वर्तमान है और वे एक अत्यन्त सफल प्रबन्धकार होने के साथ-साथ एक अत्यन्त सफल गीतिकार भी हैं। कहना न होगा कि इस दृष्टि से पूरे हिन्दी-साहित्य में केवल तुलसी ही उनके समकक्ष ठहरते है।

१५

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति मानव की चिरसंगिनी है, इसी कारण अनादि काल से मनुष्य अपनी विभिन्न कलाओं में उसका उपयोग करता आ रहा है। काव्य के क्षेत्र में प्रकृति को लेकर विभिन्न कालों में विभिन्न दृष्टिकोण रहे है। हिन्दी के आधुनिक काल में विशेषत: छायावादी काव्य में, प्रकृति का चित्रण अपने सुन्दरतम रूप में हुआ है। इसके पूर्व हिन्दी में उसे कभी भी यह गौरव न मिल सका और न वह इतनी सजीव ही हो सकी। छायावादी कवियों ने प्रकृति को मनुष्य की ही भाँति बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक भावों के भी सौन्दर्य से युक्त चित्रित किया। इस प्रकार वह निर्जीव न रहकर यथार्थ अर्थों में मानव की सजीव संगिनी बन गई।

प्रारम्भिक कविताओं मे प्रकृति के प्रति प्रसाद के दो दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। एक तो प्रेम का, और दूसरा जिज्ञासा का। एक का सम्बन्ध हृदय से है, और दूसरे का मस्तिष्क से। प्रेम की दृष्टि से वे प्रकृति के सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं और जिज्ञासा में पीछे या उसके सौन्दर्य मे कौन छिपा है, जैसे प्रश्न करते हैं। इनके आरम्भिक काल के प्रकृति के चित्रों मे वर्णन का प्राधान्य और सजीवता कम है। पर आगे बढ़ने पर ज्यों-ज्यों प्रकृति का सजीव रूप उनके मानस में निखरता गया वे उसके रूप को सजीव बनाते गए। 'कानन कुसुम' तक आते-आते कवि प्रकृति और मानव को एक रूप में देखने लगता है। उसके लिए दोनों सजीव हैं, दोनों हँसते-मुस्कराते है और दोनों के पीछे कोई विराट् सत्ता है। प्रकृति को कही-कही ब्रह्म की सहचरी के रूप में भी चित्रित किया गया है।

ढके उषा पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी।

'कानन कुसुम' के बाद 'प्रेम पथिक', करुणालय तथा 'महाराणा का

महत्त्व' आदि तक वह आते-आते तो कवि के प्रकृति-चित्रण पर्याप्त सुन्दर होने लगे हैं, पर उनमें पूर्णता 'झरना' 'लहर' और 'कामायनी' में आती है।

प्रसाद पन्त की भाँति मूलतः प्रकृति के कवि नही है। उनकी प्रकृति मानव के लिए है, इसीलिए पन्त की भाँति प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र उनमें अधिक नहीं हैं। साथ ही वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति का हर कण उन्हे प्यारा नही है। केवल उसका सुन्दर रूप ही उन्हे आकर्षित करता है। आख्यानक कविताओं में वे प्रकृति का चित्र प्रायः नहीं भूलते। प्रकृति का सबसे अधिक प्रयोग उन्होंने इसी रूप में किया है, यों अन्य प्रचलित रूपों का भी उनमे अभाव नही कहा जा सकता।

प्रसाद के काव्य मे प्रकृति को प्रमुखतः निम्नांकित रूपों में स्थान मिला है—

(क) *पृष्ठभूमि या पूर्व पीठिका के रूप में*—आख्यान कविताओं मे अपने कविता-काल के आरम्भ से ही प्रसाद प्रकृति का पृष्ठभूमि-रूप मे प्रयोग करते आ रहे है। 'चित्रकूट', 'भरत', 'प्रेम पथिक', 'करुणालय' तथा 'कामायनी' सभी में इस प्रकार के चित्र है। एक उदाहरण है—

सान्ध्य नीलिमा फैल रही है प्रान्त में
सरिता के। निर्मल विधु बिम्ब विकास है,
जो नभ में धीरे-धीरे है चढ़ रहा।
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को।

(करुणालय)

इस रूप में प्रसाद ने प्रकृति को कोमल और भीषण दोनों रूपों में चित्रित किया है।

(ख) *उद्दीपन रूप में*—उद्दीपन रूप में प्रकृति आनन्द के समय मानव के आनन्द को द्विगुणित करती हुई तथा दुःख के समय उनके दुःख को बढ़ाती हुई दिखाई पड़ती है। ये दोनों रूप काव्य में प्राचीन काल से ही मिलते हैं। प्रसाद में भी ये हैं। 'कामायनी' के 'वासना' सर्ग में मिलन के उद्दीपन-रूप में प्रकृति का बड़ा ही मादक चित्र है—

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील।
शिथिल है जिस पर बिखरता प्रचुर मंगल खील।
राशि-राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रान्त।
बिखरती है तामरस सुन्दर चरण के प्रान्त।

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप।
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।।
बरसता था मदिर कण-सा स्वच्छ सतत अनन्त।
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।।

दूसरे प्रकार का चित्र श्रद्धा के दुःख से अभिभूत प्रकृति का है—

सन्ध्या नील सरोरुह में जो श्याम पराग बिखरते थे।
काल घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे।
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उसकी दुःख गाथा।
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिलकर जो स्वर भरते थें।

(ग) *आलम्बन रूप में*—इस रूप में वर्णन वहाँ होता है जहाँ प्रकृति ही वर्ण्य-विषय हो। प्रसाद में ऐसे चित्र हैं, पर अधिक नहीं। 'लहर', 'झरना' तथा 'कानन कुसुम' की प्रकृति-विषयक कुछ कविताएँ ऐसी ही है।

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
('किरण'—झरना)

इस प्रकार के चित्र 'मानवीकरण' द्वारा कही-कही बड़े सजीव हो उठे है।

(घ) *प्रतीक रूप में*—प्रसाद ने प्रतीकात्मक भाषा का बहुत प्रयोग किया है। इन प्रतीकों में अधिकांश उन्होंने प्रकृति से लिये है। 'लहर' कविता में 'लहर', 'आनन्द की भाव लहर' का प्रतीक है। इसी प्रकार 'प्रेमी' के लिए 'मधुप', 'प्रिया' के लिए 'मुकुल', प्रफुल्लता या आनन्द के लिए 'उषा' या 'प्रभात', 'विषाद' के लिए 'पतझड़', मानसिक व्याकुलता के लिए 'झञ्झा' आदि का प्रयोग भी प्रसाद ने किया है।

(ङ) अलंकारों में अप्रस्तुत रूप में—इस रूप में भी प्रसाद ने प्रकृति का बहुत अधिक प्रयोग किया है।

मकरन्द मेघ माला-सी वह स्मृति मदमाती आती।

× × ×

आह वह मुख पश्चिम के व्योम, बीच जब घिरते हों घनश्याम।
अरुण रविमण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।

× × ×

उषा की पहली लेखा कान्त माधुरी से भींगी भर मोद।
मदभरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक-द्युति की गोद। (कामायनी)

(च) *रहस्यमय स्पर्शों से युक्त प्रकृति*—प्रायः सभी छायावादी कवियों मे यह प्रवृत्ति है। प्रसाद से उदाहरण है—

उस असीम नीले अंचल में, देख किसी की मृदु मुस्कान।
मानो हँसी हिमालय की है, फूट चली करती कल गान।

× × ×

महानील इस परम व्योम मे, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते है सन्धान।

(कामायनी)

(छ) *उपदेशात्मक रूप में*—यह प्रवृत्ति प्रसाद में बहुत कम है। दो उदाहरण है—

जीवन तेरा क्षुद्र अश है व्यक्त नील घनमाला में।
सौदामनी सन्धि-सा सुन्दर क्षण-भर रहा उजाला में।

(कामायनी)

निवास जल में ही है तुम्हारा तथापि मिश्रित कभी न होते।
'मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे'—सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है।

('सरोज'—कानन कुसुम)

इस प्रकार प्रसाद ने अपने काव्य में प्रकृति का बहुत अधिक और बड़े सुन्दर रूप में उपयोग किया है।

१६

भाषा और अलंकार

प्रसाद ने आरम्भ में लिखना प्रारम्भ किया 'ब्रजभाषा' में। 'चित्राधार' की कविताएँ ब्रजभाषा में ही है। पर बाद में युग की गति के अनुकूल उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। 'चित्राधार' को छोड़कर 'कानन कुसुम' से लेकर 'कामायनी' तक उनकी सारी रचनाएँ खड़ी बोली में है। 'प्रेम पथिक' आरम्भ मे ब्रजभाषा में लिखा गया था, पर बाद में कवि ने उसे कुछ परिवर्तित-परिवर्द्धित करके खड़ी बोली में लिख डाला।

भाषा-प्रयोग की दृष्टि से प्रसाद के काव्य-जीवन को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है। आरम्भिक या ब्रजभाषा काल, माध्यमिक या खड़ी बोली का आरम्भिक काल, अन्तिम या प्रौढ़ काल। माध्यमिक या खड़ी बोली के आरम्भिक काल मे 'कानन कुसुम' प्रारम्भिक रचना है, जिसकी भाषा ब्रज की तुलना में सचमुच खड़खड़ा रही है। भाषा में गति भी नही है। अशुद्धियाँ भी हैं—

हर एक 'पत्थरों' में वह मूर्ति ही छिपी है साथ ही यत्र-तत्र ब्रज के रूप भी हैं। विदेशी शब्दों के भी दर्शन हो जाते है। माध्यमिक काल के दूसरे चरण में 'प्रेम पथिक', 'करुणालय','महाराणा का महत्त्व' तथा 'झरना' है। यहाँ आते-आते भाषा में गति और प्रौढता आ गई है। धीरे-धीरे आगे आने वाली कोमलता के बीज भी यहाँ हैं। विदेशी शब्दों का प्रयोग धीरे-धीरे कम हो रहा है। पर भाषा में कलात्मक प्रौढता आने पर भी अप्रचलित प्रयोग, अव्यवस्था और अशुद्धियों के उदाहरण मिल जाते है—

कौन कहेगा—वही मानसिक कितना कष्ट उठाता है। (प्रेम पथिक)

यहाँ 'कितना' मानसिक के पूर्व आना चाहिए।

जिसे आपसे कहा नहीं मै चाहता। (महाराणा का महत्त्व)

'कहा' दिल्ली के आस-पास की बोली में तथा उर्दू मे चलता है, पर हिन्दी में 'कहना' चलता है।

गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने 'सुखलाकर' (झरना)

यहाँ 'सुखाकर' होना चाहिए।

अन्तिम या प्रौढ काल की रचनाएँ 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' हैं। यहाँ आते-आते कवि ने विदेशी शब्दों को प्रायः पूर्णतः त्याग दिया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग अधिक है, तद्भव शब्द भी ऐसे ही आए हैं जो इस भाषा की गति मे बाधक नही होते। देशज शब्द भी प्रायः ऐसे नहीं है जो खटकें। 'खुट्टी', 'ढीह' और 'ठिठोली' अपवाद हैं। पर, व्याकरण और प्रयोग-दोष प्रसाद में अन्त तक मिलते है। कुछ उदाहरण है—

लिंग-दोष

एक सजीव तपस्या जैसे पतझर में कर वास रहा (कामायनी)

('तपस्या' स्त्रीलिंग है, पर यहाँ पुल्लिंग में प्रयुक्त है।)

क्यों व्यथित व्योम-गंगा-सी छिटकाकर दोनों छोरें। (आँसू)

('छोर' पुल्लिंग है, पर यहाँ स्त्रीलिंग रूप मे प्रयुक्त है।)

जलती छाती की दाह रही। (कामायनी)

('दाह' पुल्लिंग है।)

वचन-दोष

काँटों ने भी पहना मोती। (लहर)

('पहने' होना चाहिए।)

अरे अमरता के चमकीले पुतलो तेरे वे जयनाद। (कामायनी)

('तेरे' एक वचन है, 'तुम्हारे' होना चाहिए।)

तुम्हें तृप्ति-कर सुख के साधन सकल बताया। (कामायनी)

('बताये' होना चाहिए।)

मुहावरा-दोष

भ्रांत अर्थ बन आगे आए बने ताड़ थे तिल के। (कामायनी)

(तिल का ताड़ बनाया जाता है, बनता नहीं।)

इसी प्रकार पाद-पूर्ति के लिए शब्द-प्रयोग, अस्पष्टता, छन्द की आवश्यकता के लिए शब्दों की तोड़-मरोड़, समाप्त पुनरुक्ति दोष, दूरान्वय दोष तथा वाक्य की अपूर्णता आदि भी प्रसाद की भाषा की कमियाँ है। पर, इन

कमियों की तुलना में उनकी भाषा में प्रौढ़ता और अच्छाइयाँ इतनी अधिक है, कि ये बातें बहुत कम खटकती है।

भाषा के सम्बन्ध में प्रसाद का दृष्टिकोण द्रष्टव्य है—

"सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली तथा वाक्य-विन्यास, आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास पर ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।……इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन नये शब्दों की योजना हुई, हिन्दी मे पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दों मे भिन्न प्रयोग से एक नवीन अर्थ-द्योतन करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ-द्योतन करने में सहायक होते हैं। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थी प्रमाण है। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य मे मान्य हुए।"

प्रसाद के भाषा-सौन्दर्य का रहस्य उनका उपर्युक्त विचार ही है। अपने पूर्ववर्ती युग की भाषा छायावाद के सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों को व्यक्त करने में असमर्थ लगी, अतएव उन्होंने नवीन शैली, नवीन वाक्य-विन्यास, शब्दों की भंगिमा, नवीन शब्दों का प्रयोग, पुराने शब्दों का नवीन सन्दर्भ मे तथा नवीन अर्थ के लिए प्रयोग आदि बातों पर बल दिया और फल यह हुआ कि उनकी भाषा-शैली में अपूर्व आकर्षण आ गया। यों तो पन्त को शब्द-शिल्पी कहा जाता है, पर प्रसाद में भी शब्द-शिल्प कम नहीं है। कवि के लिए केवल शब्द-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं। उसे शब्दों की आत्मा और उनकी रागमयता का ज्ञान होना चाहिए। प्रसाद में ये गुण किसी भी हिन्दी-कवि से कम नही है। यही कारण है कि उनकी भाषा मे एक नवीन कान्ति, उनके व्यक्तित्व और उनके भावो-सी ही एक नवीन मादकता, चित्रमयता, हृदयग्राह्यता, भावानुकूलता और लयपूर्णता का अपूर्व वैभव है और वह श्रोता या पाठक पर जादू-सा प्रभाव डालती है। प्रसाद अभिधा के कवि बहुत कम स्थलों पर हैं। वे प्राय: भाषा को लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का उपयोग करते हैं, इस कारण भी उनकी भाषा में एक अपूर्व सौन्दर्य निखर आता है। इन सारी बातों के साथ उनकी भाषा में प्रतीक-बाहुल्य सोने में सुगन्ध का काम करता है। इसके कारण उनको भाषा में एक सजीवता आ जाती है और साथ ही सांकेतिकता के कारण

अर्थ-सौन्दर्य भी बढ जाता है । प्रसाद की भाषा की श्री-सम्पन्नता के कुछ उदाउदाहरण दिये जा रहे है—

पाद-सौन्दर्य—

(१) कंकण क्वणित रणित नूपुर थे, (कामायनी)
(२) उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल के जालों-सी
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी । (कामायनी)
(३) धंसती धरा धधकती ज्वाला, (कामायनी)
(४) उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती । (लहर)
(५) खग-कुल कुलकुल-सा बोल रहा । (लहर)

प्रतीकात्मकता

(१) उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर । (लहर)
लहर=आनन्दित करने वाले भाव ।
(२) कलियाँ जिनको मं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस-पास ।
(कामायनी)
कलियाँ=सुख के साधन । काँटे-कठिनाइयाँ, दुःख के साधन ।
(३) मधुमय-वसंत जीवन वन के वह अन्तरिक्ष की लहरों में ।
मधुमय वसंत=मादक यौवन । (कामायनी)

भावानुकूलता

कोमल किसलय के अंचल में नन्ही कलिका ज्यों छिपती-सी ।
(कामायनी)

लाक्षणिकता

वैसे ही माया में लिपटी, अधरों पर उँगली धरे हुए ।
माधव के सरस कुतूहल का, आँखों में पानी भरे हुए ।
नीरव निशीथ में लतिका-सी, तुम कौन आ रही हो बढ़ती ।
कोमल बाँहें फैलाये-सी, आलिंगन का जादू पढ़ती । (कामायनी)

सरसता

मधु बरसती विधु किरण है, काँपती सुकुमार ।
पवन में है पुलक मंथर चल रहा मधु भार । (कामायनी)

प्रसाद की भाषा की दो विशेषताएँ और उल्लेख्य है । एक है उनका

विरोधी शब्दों का प्रयोग और दूसरे कल्पना पर आश्रित उनके निजी प्रयोग। इस प्रकार के प्रयोगों से उनकी शैली बड़ी आकर्षक हो जाती है।

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी, अरी आधि मधुमय अभिशाप।
हृदय-गगन में धूमकेतु-सी, पुण्य-सृष्टि में सुन्दर पाप ॥

यहाँ 'मधुमय अभिशाप' तथा 'सुन्दर पाप' विरोधी प्रयोग है। इसी प्रकार 'शीतल दाह' आदि का भी प्रयोग किया गया है। 'चिन्ता' के लिए 'अभाव की चपल बालिके' तारागणों के लिए 'तम के सुन्दरतम रहस्य' तथा 'रात्रि' के लिए 'विश्व कमल की मृदुल मधुकरी' आदि प्रसाद के अपने प्रयोग हैं।

प्रसाद ने भाषा में स्वाभाविक गति लाने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है, यद्यपि अधिक नही।

सुन्दर, मधु, मधुर आदि शब्द प्रसाद को बहुत प्रिय है और इनका प्रयोग उन्होंने बहुत अधिक किया है।

प्रसाद जी की शैली बड़ी पुष्ट, भव्य और उदात्त है। वचन-वक्रता, प्रगीतात्मकता, चित्रात्मकता और सुन्दर अलंकरण-विधान के कारण उसका आकर्षण और भी बढ गया है। भेद की दृष्टि से सांकेतिक, संगुम्फित, सरल तथा अलंकृत आदि पूर्व प्रकार की शैलियाँ इनमें मिलती है। कुछ अपवादों को छोड़कर इनकी शैली सर्वत्र गाम्भीर्य से युक्त है।

प्रसाद ने भावों की स्पष्टता तथा अर्थ-ध्वनन के लिए भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमान, यों इनमें प्राचीन भी मिलते है, पर नवीन की भी कमी नही है —

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।
या (कामायनी)

कुसुम कानन अंचल में मन्द, पवन प्रेरित सौरभ साकार।
रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।
या (कामायनी)

केतकी गर्भ-सा पीला मुख

कुछ अलंकारो के उदाहरण हैं—

सांगरूपक

अम्बर पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी। (लहर)

मानवीकरण

(१) भयमय मौन निरीक्षक-सा था सजग सतत चुपचाप खड़ा ।
(कामायनी)
(२) अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को ।
(कामायनी)
(३) ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक । (लहर)

मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान

आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार ।
चपल शैशव-सा मनोहर भूल का ले भार । (कामायनी)

अमूर्त्त के लिए मूर्त उपमान

मृत्यु अरी चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी-सा शीतल ।
(कामायनी)

विरोधाभास

अमर मरेगा क्या ? (कामायनी)

विशेषण विपर्यय

(१) जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार-बार जाती सोने । (कामायनी)
(२) नर्तित पद-चिन्ह बना जाती । (लहर)
(३) थकी सोई है मेरी मौन व्यथा । (लहर)

प्रसाद जी के अलंकार अधिकाशतः सादृश्यमूलक है, जिसके कारण स्वरूप-बोध बड़ी सरलता एवं सुन्दरता से हो जाता है ।

१७

छन्द

प्रसाद का युग हर दृष्टि से प्रयोग का था। भाषा, छन्द, भाव और शैली सभी दृष्टियों से प्रयोग हो रहे थे। प्रसाद भी इन प्रयोगों में किसी से पीछे न रहे।

उन्होंने अपनी कविता का आरम्भ सवैया और कवित्त से किया। बाद में रोला, छप्पय और मीराँ, सूर आदि की भाँति पदों का भी प्रयोग किया। पर उनको ये छन्द उस समय की आवश्यकता के अनुकूल नहीं जान पड़े। फलस्वरूप उन्होंने मुक्त हृदय से देशी-विदेशी कई छन्दों का प्रयोग किया और अन्त मे अपनी कविता के लिए इन प्रयोगों के आधार पर छन्दों का चयन किया। सच पूछा जाय तो आरम्भ से लेकर 'झरना' तक उनके छन्द-सम्बन्धी प्रयोग ही प्राय: चलते रहे है और इसके बाद 'आँसू', 'लहर' तथा 'कामायनी' में कवि ने अपनी खोजों के आधार पर छन्दों का सफल प्रयोग किया। यों इन तीनों के पूर्व 'प्रेम पथिक' तथा 'करुणालय' के छन्द भी पर्याप्त सफल हैं और उनके भावों को सशक्तता से वहन करने में सर्वथा समर्थ हैं, पर अन्यों मे गति की कमी है।

१९०९ के पूर्व कवि ने मात्रिक और वर्णिक दोनों ही छन्दों का प्रयोग किया है, पर वर्णिक छन्दों की प्रधानता रही है। १९०९ से लगभग १९१४ तक भी दोनों चलते रहे, पर वर्णिक छन्द का प्रयोग धीरे-धीरे कम होता गया और मात्रिक का बढता गया और १९१४ के बाद उन्होंने केवल मात्रिक छन्दों का ही प्रधानत: प्रयोग किया।

प्रयोग की दृष्टि से कवि ने उर्दू के 'ग़जल' छन्द को भी अपनाया था। इस प्रकार की उनकी पहली रचना 'भूल' कही जाती है, जो मई १९१३ के 'इन्दु' में छपी थी। आगे चलकर इस छन्द का प्रयोग उन्होंने नहीं

किया। यों उर्दू छन्दों की ओर उनका झुकाव १९१३ से भी पूर्व हो गया था। 'प्रभो' कविता, जो १९११ मे लिखी गई थी, उर्दू की तर्ज पर है। बाद की 'झरना' की 'आज इस घन की अँधियारी में' पर भी गजल शैली का प्रभाव है।

अंग्रेजी से सॉनेट (चतुर्दशपदी) छन्द को भी प्रसादजी ने अपनाया। इससे पूर्व शायद १९०० में लोचनप्रसाद पाण्डेय ने ही इस छन्द का प्रयोग किया था। प्रसादजी ने १९१२ से 'सॉनेट' लिखने आरम्भ किये और बहुत प्रौढ़ावस्था तक लिखते रहे। सब मिलाकर उनके लगभग २४ सानेट आज प्राप्त हैं। पहला सानेट 'सरोज' था, जो मार्च, १९१२ में 'इन्दु' में छपा था। अन्य सानेट 'रमणी हृदय', 'तुलसीदास', 'पाईबाग' तथा 'मेरी कचाई' आदि है। इनके सानेटों की विशेषता यह है कि इन्होंने केवल १४ पंक्तियों का नियम और सानेट का अन्तस्सौन्दर्य ही ग्रहण किया है। उसकी तुक-प्रणाली आदि प्रायः स्वतन्त्र रखी है। छन्द की दृष्टि से उन्होंने सानेटों में रोला, उल्लाला, ताटंक आदि कई का प्रयोग किया है, पर उनके श्रेष्ठ सानेट १६, १४ के विराम से ताटंक छन्द में ही लिखे गए हैं। इनके कुछ सानेट अतुकान्त भी हैं। 'मेरी कचाई' इसी प्रकार का है। इसमे अतुकान्त अरिल्ल का प्रयोग हैं।

बंगला के छन्दों में कवि ने 'त्रिपदी' और 'पयार' इन दो छन्दों को अपनाया।

'त्रिपदी' की ध्वनि बंगला के तो उपयुक्त है, पर उच्चारण की विभिन्नता के कारण हिन्दी के बहुत अनुकूल नहीं है—

सघन सुन्दर मेघ मनोहर
गगन सोहत हेरि।
धरा पुलकित अति अनन्वित
रूप धरचो चहुँ फेरि।

इसी कारण इसकी तुलना में 'पयार' का अधिक प्रचलन है। हिन्दी में इसके प्रथम प्रयोग का श्रेय 'भारतेन्दु' को है। प्रसाद ने 'सांध्य तारा' तथा कुछ और कविताएँ इसमें लिखी हैं।

हिन्दी के वर्णिक छन्दों को अतुकान्त रूप तो पहले से दिया जा चुका था, पर मात्रिक के अतुकान्त रूप के प्रयोग का श्रेय प्रसाद को है। यह प्रयोग उन्होंने १९१२ में किये। इनकी प्रेरणा उन्हें बंगला के अमित्राक्षर तथा अंग्रेजी के ब्लैंकवर्स से मिली थी। उनकी इस प्रकार की पहली प्रकाशित रचना 'भारत' है, जो अतुकान्त अरिल्ल (२१ मात्रा) में है। इसके पूर्व काव्य में

विरामों का प्रयोग प्राय: अर्थ के आधार पर न करके पद या चरण के आधार पर होता था। प्रसाद ने ही सबसे पहले इस छन्द में अर्थ के आधार पर विराम-प्रयोग प्रारम्भ किया। इस प्रकार इसकी पंक्तियाँ अचल न होकर प्राय: चल होने लगीं। इस छन्द का आगे चलकर प्रसाद ने 'करुणालय' तथा 'महाराणा के महत्त्व' में बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

'चित्राधार', 'कानन कुसुम', 'प्रेम पथिक' (ब्रजभाषा संस्करण) तथा 'झरना' में यदि हम ध्यान दें तो देखेंगे कि केशव की भाँति बहुत अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग है। ये छन्द पुराने-नये सभी प्रकार के हैं। 'झरना' के सम्बन्ध में लिखते हुए एक आलोचक ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि नये-नये छन्द-प्रयोग का प्रसाद को इतना शौक है कि 'झरना' की प्राय: हर कविता नये छन्द में है। यह कहना तो सत्य से दूर है, क्योंकि अकेले 'अरिल्ल' छन्द में ही सात से अधिक रचनाएँ है, कई छन्द 'ताटंक' में भी हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि नये-नये प्रयोगों का उन्हें शौक है।

'प्रेम पथिक' (खड़ी बोली) की रचना एक नवीन छन्द में है, जिसमें ३०-३० मात्राओं की अतुकान्त चल पंक्तियाँ हैं। यह छन्द पर्याप्त संगीतपूर्ण है।

'आँसू' में १४-१४ मात्राओं के पुराने आनन्द छन्द का प्रयोग हुआ है। यह छन्द बहुत ही संगीतात्मक तथा करुणा रस के उपयुक्त है। प्रसाद द्वारा प्रयुक्त होने के बाद इसका प्रचार हिन्दी में बहुत हुआ और अब तक लोग इसे 'आँसू' छन्द ही कहते हैं। मराठी में 'आँसू' का अनुवाद भी इसी छन्द में हुआ है।

'लहर' में प्रमुख रूप से गीत है, कुछ अतुकान्त कविताएँ है, तथा कुछ अन्य छन्द। कहना न होगा कि ये अतुकान्त कविताएँ पीछे उल्लिखित 'प्रेम पथिक' या 'करुणालय' आदि से भिन्न हैं। इनमें अतुकान्तता के अतिरिक्त छन्द की मुक्तता भी होती है। अर्थात् कविता की पंक्तियाँ छोटी-बड़ी होती हैं। इतनी स्वच्छन्दता के बावजूद भी इस छन्द में पर्याप्त प्रवाह होता है। प्रसाद ने वीर, शृंगार और करुण आदि कई प्रकार की रचनाओं के लिए इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

प्रसाद के गीत चार-पाँच प्रकार के है। आरम्भ में तो वे मध्ययुगीन कवियों की भाँति पद 'भजन गीत' का प्रयोग करते थे। पद भी दो प्रकार के थे। एक तो वह, जिसमें आद्यन्त एक प्रकार के तुक का निर्वाह था। जैसे **'अमा को करिये सुन्दर राका'**। दूसरे प्रकार के पदों में स्थायी और अन्तरा के तुकों में भिन्नता होती है। जैसे—

हृदय में छिपे रहे इस डर से ।

× × ×

हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे तुम जीते हम हारे ।

दूसरी प्रकार के गीत 'गजल गीत' कहे जा सकते हैं । ये गजल की तर्ज पर लिखे गए है । **'विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही है"** इसी प्रकार का गीत है । तीसरे प्रकार के गीत आधुनिक प्रकार के है, जिनका महादेवी वर्मा ने विशेष रूप से प्रयोग किया है । वस्तुतः इन आधुनिक गीतों की व्यवस्था में गजल और पद दोनो का हाथ है । 'लहर' की बहुत-सी रचनाएँ इसी प्रकार की हैं । नाटकों के भी अधिकाश गीत ऐसे ही हैं ।

चौथे प्रकार का गीत प्रसाद का अपना प्रयोग है, पर सम्भवतः बहुत सफल न देखकर स्वयं भी उन्होंने उसका प्रयोग अधिक नही किया है । इस प्रकार के गीत-छन्द का प्रयोग 'कल्याणी परिणय' में 'मधुप कब एक कली का है' में हुआ है, जिसमें बीच-बीच में 'दोहा' छन्द का भी प्रयोग हुआ है । अन्तिम प्रकार के गीत का उदाहरण 'झरना' का 'रे मन' है, जिसमें बीच-बीच में ४ मात्राओं के शब्द या शब्द-समूह रखे गए है ।

'कामायनी' में छन्द-प्रयोक्ता प्रसाद तीन रूपों में आते है । कही-कहीं तो वे शास्त्रीय पद्धति को अपनाते है; कही थोड़े परिवर्तन से या दो छन्दों को मिलाकर वे अपने भावों के अनुकूल नया छन्द बना लेते है । और कहीं बिलकुल नवीन स्वनिर्मित छन्दों का प्रयोग करते है । इड़ा के गेय पद इस तीसरे प्रकार के ही है ।

'कामायनी' का सर्वप्रमुख छन्द 'ताटंक' है, जिसमें १६, १४ के विराम से ३० मात्राएँ होती है और अन्त में तीन या एक गुरु होता है । इसका प्रयोग 'चिन्ता', 'आशा', 'स्वप्न' और 'निर्वेद' सर्गो मे हुआ है । कवि ने इसके प्रयोग में सर्वत्र एकरूपता का ध्यान नही रखा है । कही-कही अन्त में एक 'लघु' जोड़कर इसे 'वीर छन्द' में परिवर्तित कर दिया है । 'कामायनी' का पहला छन्द इसी प्रकार का है । इसमें ३० मात्राएँ न होकर ३१ है । 'श्रद्धा' सर्ग में 'शृङ्गार' (१६ मात्राओं की प्रत्येक पंक्ति) छन्द का प्रयोग है इसके अन्त में गुरु-लघु आना चाहिए, पर कवि ने कहीं-कही लघु-गुरु भी कर दिया है । 'काम' और 'लज्जा' में १६ मात्राओं की पंक्ति का पादाकुलक है । 'वासना' में मदन या रूपमाला (१४+१०=२४, अन्त में ऽ।), 'संघर्ष' में रोला (११+१३=२४। अन्त में दो गुरु या कुछ भिन्न भी) तथा 'कर्म' में सार या ललित पद (१६+१२=२८) है । ललित पद के प्रयोग में कवि ने कभी तो अन्त में ३ गुरु,

कभी दो और कभी एक रखा है। 'ईर्ष्या' और 'दर्शन' सर्गों के लिए कवि ने पादाकुलक (१६) और पद्धरि (१६) के योग से एक नूतन छन्द की सृष्टि की है। 'आनन्द सर्ग' में 'आनन्द' नाम के छन्द (१४+१४) का प्रयोग हुआ है। यह कवि का वही प्रिय छन्द है, जिसमें 'आँसू' कृति खिल उठी है तथा जो आधुनिक साहित्य में 'आँसू' नाम से प्रसिद्ध है। 'इड़ा' सर्ग में गीत का प्रयोग है। इसमें टेक और अन्तिम पंक्ति में १६-१६ मात्राएँ हैं और बीच की ७ पंक्तियों मे २२-२२। 'रहस्य' में 'ताटंक' के ही एक परिवर्तित रूप का प्रयोग है।

इस प्रकार छन्द की दृष्टि से प्रसाद एक अच्छे प्रयोगवादी कहे जा सकते है। उनके अधिकांश छन्द (आरम्भिक रचनाओं को छोड़कर) बहुत ही संगीतपूर्ण है। साथ ही भाव की दिशा का ध्यान किये बिना उन्होंने छन्दों का प्रयोग कभी नहीं किया।

प्रसाद में छन्द-विषयक अव्यवस्था भी दिखाई पड़ती है, पर अधिक नहीं। कुछ उदाहरण 'कामायनी' से लिये जा रहे है—

गति दोष—

श्रद्धा का प्रणय और उसकी आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति।
जिसमे व्याकुल आलिंगन का अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति॥

तुक दोष—

मै बैठी गाती हूँ तकली के प्रतिवर्तन में स्वर-विभोर।
चल री तकली धीरे-धीरे प्रिय गए खेलने को अहेर॥
(पहली पंक्ति मे यति भंग दोष भी है)

छन्द दोष—

सुख अपने सन्तोष के लिए संग्रह मूल नहीं है।
(यहाँ २८ मात्राओं के स्थान पर २७ मात्राएँ है)
उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में भी इस प्रकार दोष हैं।

★